

विषय-सूची

१. क्या बुद्ध दुःखवादी थे?	१
मुझ पर इस मान्यता का प्रभाव कब से पड़ा	४
डॉ. राधाकृष्णन	४
आधुनिक काल तक निंदा होती रही है।	६
२. दुःखवाद का मिथ्या आरोपण	९
परम सत्य	१४
३. दुःख-विमुक्ति की विधि सिखाने वाले को दुःखवादी कैसे कहें?	१६
आर्य-सत्त्वों का दर्शन प्रत्यक्ष फलदायी है।	१६
क्या महर्षि पातंजलि भी दुःखवादी थे	१७
४. मिथ्यात्व का प्रचार प्रसार	१८
५. दुःखनिवारक सुखप्रसारक बुद्ध	२०
६. सुखवादी बुद्ध	२६
सुख से सुख की प्राप्ति	३०
सुखी गृहस्थ	३०
ऐसे बुद्ध दुःखवादी कैसे हुए?	३५
दुःख का कारण और निवारण	३९
एक धम्मस्सवणीय	४०
भिक्षु मेंढसिर	४१
पद्मावती	४१
अपराउत्तमा थेरी	४१

७. बुद्ध जैसा सुखवादी कौन होगा?	४३
विभिन्न वेदनाएं	४५
दुःख वेदना	४५
सुख वेदना	४६
८. दुःख की अतिरंजना	५८
९. क्या बुद्ध घोर दुःखवादी थे?	६२
क्या शंकराचार्य भी घोर दुःखवादी थे	६८
१०. भगवान बुद्ध की दो प्रमुख साधनाएं	७१
(१) विपश्यना साधना	७१
(२) मेत्ता भावना	७३

दो शब्द

भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा को ठीक से न समझ पाने के कारण आज भारत ही नहीं, विश्व के अनेक देशों में उनके प्रति बहुत-सी गलतफहमियां फैली हैं। इसका मुख्य कारण यही रहा कि उनके द्वारा सिखायी गयी अत्यंत व्यावहारिक कल्याणी विपश्यना विद्या का अभ्यास छूट गया। इसके अनेक कारण रहे होंगे, परंतु सौभाग्य की बात यह है कि म्यांमा (बर्मा) में वह मुक्तिदायिनी कल्याणी विद्या आज भी अपने शुद्ध रूप में कायम है और गुरु-शिष्य परंपरा की अक्षुण्ण धारा से चली आ रही विपश्यना की यह विद्या भारत सहित विश्व के अनेक देशों में जनकल्याण कर रही है। भगवान बुद्ध की मूल वाणी के साथ उसकी अर्थकथाओं, टीकाओं और अनुटीकाओं सहित सारा साहित्य अपने शुद्ध रूप में हमारे सामने आ चुका है। यह सारा साहित्य सीडी-रोम में निवेशित है, जिसमें शोधकार्य के लिए अनेक सुविधाएं उपलब्ध हैं। सारे विश्व में अनेकानेक लोग इस मुक्तिदायिनी विद्या का व्यावहारिक अभ्यास करके लाभान्वित हो रहे हैं और वर्तमान समय के बड़े से बड़े विद्वान पंडित, वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ता अन्य क्षेत्रों के बुद्धिजीवी इसकी उपस्थिति और उपयोगिता को सहर्ष स्वीकार करने लगे हैं। अतः वह समय आ गया है कि अब लोगों के मन से वे सारी गलतफहमियां दूर हों।

बहुजन हितसुख की इसी भावना से प्रेरित होकर 'विपश्यना' के विश्व विश्रुत आचार्य श्री सत्यनाराणजी गोयन्काने बुद्धवाणी के ही उद्धरणों और अपने स्वानुभवों के आधार पर इन लेखों द्वारा यह समझाने का प्रयास किया है कि हम सच्चाई को समझें और वास्तविक धर्म के अभ्यास द्वारा न केवल अपना स्वयं का कल्याण करें, बल्कि अन्य अनेक लोगों के कल्याण में सहायक बन जायें।

इसी महत्त्वपूर्ण कड़ी का यह पहला ग्रंथ है जो कि प्रकाशित होने जा रहा है। इस बारे में और अधिक जानकारी आगामी ग्रंथों में आयेगी। विश्वास है सुधी पाठक इसे पढ़ कर लाभान्वित होंगे।
बहुजन मंगल हेतु हमारी समस्त मंगल कामनाएं!

ट्रस्टी,
विपश्यना विशोधन विन्यास

१. क्या बुद्ध दुःखवादी थे?

बुद्ध और बुद्ध की शिक्षा पर दुःखवादी होने का लक्षण भारत में तो सदियों से स्वीकृत है ही, परंतु बुद्धानुयायी देशों को छोड़ कर बाहर भी कुछ अंशों में फैला है। पश्चिमी देशों के कुछ एक दार्शनिकों पर इस निराशावादी मान्यता का बहुत कुछ प्रभाव स्पष्ट है। हमारे यहां तो अत्यंत उच्चकोटि के अनेक विद्वान और शास्त्रज्ञ इस मिथ्या मान्यता के शिकार हुए। इसी कारण जन-साधारण पर भी इसका गहरा दुःप्रभाव पड़ा।

विद्यार्थी जीवन में अपने सहपाठियों सहित मैं भी इसे सच मानता रहा कि बुद्ध दुःखवादी थे। हम सबको महादेवी वर्मा की रचनाएं बहुत प्रिय लगती थीं पर उनकी रचनाओं में जहां-तहां बुद्ध के दुःखवाद का बहुत गहरा प्रभाव था जिसे वह स्वयं स्वीकार करती थी। यह दुःखवाद हमें अच्छा नहीं लगता था। दुःखवाद में तो सर्वत्र दुःख ही दुःख है। सुख का कहीं नामोनिशान नहीं।

जब उसका यह गीत पढ़ते – मैं नीर भरी दुख की बदली.....,

दुख की बदली क्यों? कि तनी व्यथा भरी है इन शब्दों में –

विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना।

कि तना दैन्य दारिद्र्य भरा है इन शब्दों में –

परिचय इतना, इतिहास यही; उमड़ी कल थी, मिट आज चली ॥

भंगुरता के बोध के कारण कि तनी विवशता भरी है इन शब्दों में!

शब्द-शब्द में बुद्ध का दुःखवादी प्रभाव झलकता है। यहां तक कि इस दुःखवादी कविचित्री को अमर देवलोक के सुखी जीवन के मुकाबले (बार-बार जन्मने और बार-बार) मरने का अपना अधिकार अधिक प्रिय लगता है। तभी कहती है –

क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव! अरे यह, मेरा मिटने का अधिकार ॥

और फिर कहती है -

अमरता है जीवन का हास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

दुःखवादी बुद्ध से प्रभावित ऐसी कविताएं पढ़-पढ़ कर मन में बुद्ध की शिक्षा के प्रति वितृष्णा जागा करती थी।

जयशंकर प्रसाद भी हमारे प्रिय कवि थे। स्वदेश तथा स्वजाति की गौरव-गरिमा मुखरित करनेवाली उनकी रचनाएं हमें बहुत प्रिय लगती थीं।

कहीं से हम आये थे नहीं,
हमारी जन्मभूमि थी यही। ...

आदि आदि।

अथवा -

हिमालय के आंगन में उसे, प्रथम किरणों का दे उपहार।
ऊषा ने हँस अभिनंदन किया, और पहनाया हीरक हार ॥

मानवी संस्कृति का प्रकाश सर्वप्रथम यहीं हिमालय के प्रांगण में विकीर्ण हुआ। देश की यह गौरव-गाथा बहुत प्रिय लगती थी। परंतु उमंग और उल्लास का अभिनंदन करने वाले प्रसादजी की यह दर्दभरी रचना 'आंसू' सामने आयी -

जो घनीभूत पीड़ा थी, अंतर में स्मृति-सी छायी।
दुर्दिन में आंसू बन कर, वह आज बरसने आयी ॥

तो लगा, उन पर भी बुद्ध के दुःखवाद का गहरा असर पड़ने लगा है।

प्रकृति की सजीव शोभा-सुषमा के कुशलचितेरे सुमित्रानंदन पंत मन को मोहते थे। जैसे कि -

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फार
अवलोक रहा था बार बार
नीचे जल में निज महाकार ॥

उसी पंत ने जब लिखा -

वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान
उमड़ कर आंखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान ॥

तो प्रसादजी के 'आंसू' सदृश इस कविता पर भी बुद्ध के दुःखवाद का ही दुष्प्रभाव दिखा। यद्यपि यह जानते थे कि यह वाल्मीकि के क्रोंच-वध के प्रसंग से प्रभावित रचना है।

इसी प्रकार बच्चनजी की -

जब जीवन का दुःख उभरता, उसे दबाता प्याले से ॥

अथवा -

याद न आये दुखमय जीवन, इससे पी लेता हाला।
जग चिंताओं से रहने को मुक्त, उठा लेता प्याला ॥

जैसी कविताएं पढ़ते तो उन पर भी हम बुद्ध के दुःखवाद का ही आरोपण करते। यद्यपि खूब समझते थे कि कविऊमर खैय्याम की रचनाओं को हिंदी जामा पहना रहा है।

परंतु उन दिनों मानस ही ऐसा बन गया था कि जहां दुःख की कोई रचना पढ़ी कि उस पर बुद्ध के दुःखवाद का ही प्रभाव दिखने लगता। किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में मैंने स्वयं भी दो-एक दुःखवादी कविताएं लिखीं, पर होश आते ही संकल्प कि या कि भविष्य में कभी ऐसा नहीं करूंगा। इससे व्यष्टि और समष्टि दोनों में दुःख का हानिकारक माहौल जागता है। अपने अत्यंत व्यस्त जीवन में कभी तुक बंदी करने का मन होगा तो देशप्रेम पर, समाज-सुधार पर अथवा उल्लास-उमंग भरी प्रकृतिके चित्रण पर ही कलम

उठेगी। तदनंतर विपश्यना मिलने पर संकल्प किया कि अब से जो रचना होगी वह धर्ममय ही होगी। और यही हुआ। फिर कभी दुःखवादी कविता नहीं लिखी।

मुझ पर इस मान्यता का प्रभाव कब से पड़ा

पीछे मुड़ कर देखने पर यह पाता हूँ कि बुद्ध की शिक्षा दुःखवादी है, इस मान्यता का पहला-पहला प्रभाव मेरे मानस पर उस समय पड़ा जबकि मैं किशोर अवस्था में आर्य समाज के संपर्क में आया। तब सत्यार्थ-प्रकाश में बुद्ध के बारे में महर्षि दयानंदजी के विचार पढ़े थे। उसमें उन्होंने बताया था कि बुद्ध की मान्यता के अनुसार सारा संसार दुःखमय है -**सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं...**।

जबकि प्रत्यक्ष सच्चाई यह है कि संसार में दुःख भी है और सुख भी। सारे संसार को दुःखमय कहना मिथ्या कथन है। महर्षि दयानंद सरस्वती के प्रति मेरे मन में सदा अत्यंत श्रद्धा का भाव रहा है। उनकी समाज सुधार की क्रान्तिकारी विचारधारा से मेरा जीवन बहुत लाभान्वित हुआ है। अतः आर्य समाज के प्रभाव में रहते हुए उन दिनों यह मान्यता अंतर्मन में गहराई से बैठती चली गयी कि बुद्ध की शिक्षा एक पक्षीय दुःखवादी है। सत्यार्थ प्रकाश ने बुद्ध की शिक्षा के और भी अनेक दोष बताये। परंतु उन दिनों वे मेरी समझ में नहीं आये। दुःखवादी होने का दोष तो बहुत स्पष्ट था।

युद्धपूर्व के बरमा में आर्य समाज से प्राप्त हुई यह विचारधारा आगे चल कर द्वितीय महायुद्ध के दौरान कुछ वर्षों के लिए भारत आने पर अधिक अधिक पुष्ट होती चली गयी। उन दिनों युवावस्था में बुद्ध के दुःखवाद पर न जाने कितने लेख पढ़े, कितनी कटु आलोचनाएं पढ़ीं।

डॉ. राधाकृष्णन

एक अत्यंत गहरा प्रभाव आधुनिक युग के लब्धप्रतिष्ठ दार्शनिक और स्वाधीन भारत के राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की रचनाओं से पड़ा। उन्होंने लिखा कि : -

– “बुद्ध ने दुःखवाद की प्रबल अतिशयोक्ति की है....। चिंतन क्षेत्र के समग्र इतिहास में मानव जीवन पर दुःख की जितनी प्रगाढ़ कालिमा बुद्ध ने थोपी है, उतनी और किसी ने नहीं....। उन्होंने दुःख की कालिमा को अत्यंत अतिरंजित करके दिखाया है।”

राधाकृष्णनजी ने यह भी लिखा –

“बुद्ध वस्तुओं के अंधकारमय पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार जीवन में साहस एवं विश्वास का अभाव प्रतीत होता है। इस मत ने दुःख पर जो इतना अधिक बल दिया है, वह यदि मिथ्या नहीं तो सत्य भी नहीं है।”

– “बौद्ध मत में इस प्रकार की प्रवृत्ति पायी जाती है कि जो धुंधला है उसे काला बना दो और जो काला है उसे घोर तमोमय बना दो।”

– “बौद्धों की दृष्टि सिद्धांत रूप से केवल जीवन के तीक्ष्ण, कटु एवं दुःखमय अंशों तक ही विशेष रूप से सीमित रहती है।”

मूल बुद्ध-वाणी और व्यावहारिक विपश्यना में से गुजरने के बाद यह स्पष्ट समझ में आने लगा कि पिछले हजार-पंद्रह सौ वर्षों से बुद्ध और उनकी शिक्षा पर कि तने निराधार आरोप लगाये गये हैं। बुद्ध की मूल शिक्षा से अनभिज्ञ रहने के कारण ही उन पर बार-बार ऐसे आरोप थोपे गये जिनका उनकी वास्तविक शिक्षा से कोई संबंध नहीं। समय बीतते-बीतते उन पर थोपे गये मिथ्या कलंक की कालिमा को बार-बार दोहराते हुए उसे अधिक-अधिक घनीभूत किया जाता रहा। कालिमा को इतना गहराया गया कि उसके भीतर का वास्तविक सत्य सर्वथा अदृश्य हो गया। मैं नहीं मानता कि डॉ. राधाकृष्णनजी ने जानबूझ कर ऐसा किया। भले अनजाने में ही किया हो, लेकिन बुद्ध पर लगायी गयी मिथ्या कलंक-कालिमा कि तनी घनीभूत कर दी गयी है, यह उनके उपरोक्त कथन में स्पष्ट प्रकट होता है। मुझे इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जब बुद्ध की मूल वाणी देश से सर्वथा लुप्त हो गयी तब औरों की कुछ कही, कुछ अनकही बातों को प्रमुखता दिये जाने के कारण इन मिथ्या मान्यताओं पर कलंक-कालिमक्की परतों पर परतें चढ़ती चली गयीं।

भारत से लगभग डेढ़-दो हजार वर्षों पूर्व लुप्त हुई बुद्ध-वाणी रंगून में १९५४-१९५६ में हुए छद्म संगायन के बाद डॉ. राधाकृष्णनजी के जीवन कालमें भारत पुनः लौट चुकी थी और आदरणीय भिक्षु जगदीश काश्यपजी के कुशलसंपादन द्वारा नव-नालंदा महाविहार की ओर से भारत सरकार ने इसे प्रकाशित भी कर दिया था। इन ग्रंथों के लिए सामान्य प्राक्कथन स्वयं राधाकृष्णनजी ने ही लिखा भी। परंतु स्पष्ट है कि राष्ट्रपति पद की विभिन्न जिम्मेदारियों में अत्यंत व्यस्त रहने के कारण उन्होंने इन ग्रंथों का स्वयं पारायण नहीं किया। अन्यथा मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे अपनी पूर्व निश्चित धारणाओं में आमूल-चूल परिवर्तन अवश्य करते।

आधुनिक काल तक निंदा होती रही है।

पिछले हजार-पंद्रह सौ वर्षों के दौरान बुद्ध और उनकी शिक्षा के संबंध में अनेक मिथ्या बातें देश में फैलती रहीं। कि सी ने उनका निराकरण नहीं किया। बल्कि अनेक लोगों द्वारा बार-बार दोहराया जाती रही। मैं नहीं समझता कि सभी आलोचकों ने बुद्ध के प्रति द्वेषभाव से प्रेरित होकर ऐसा किया। परंतु सच्चाई यह है कि बुद्ध के बारे में जो मिथ्यात्व-मिश्रित सामग्री उपलब्ध थी उन्हें उसी का सहारा लेना पड़ा।

पिछले दिनों ही देश के एक तांत्रिक धर्मगुरु का निम्नलिखित वक्तव्य सामने आया -

-मनुष्य के जीवन के आरंभ से अंत तक अर्थात् आरंभ में, मध्य में और अंत में केवल दुःख है - ऐसा अगर कोई सोचते हों तो वे गलती करेंगे।.....

-मनुष्य के जीवन में उस रोग-शोक, जरा-व्याधि को देख कर कोई यदि सोचे कि जगत दुःखमय है, 'सर्व दुःखं', और यही सार बात है या आर्य-सत्य है तो वह गलत होगा। (कथं संस्कृत में, प्रचलित संस्कृत में चरम सत्य को कहा जाता है - आर्य-सत्य।) संस्कृत में 'आर्य', प्राकृत में 'आज्ज', अर्द्ध-प्राकृत में 'अज्जी', वर्तमान उत्तर भारत में 'जी' आया है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कोई अगर सोचे कि दुःख आर्य-सत्य है, तो वे गलती करेंगे। अगर कोई ऐसी

धारणा रखते हों तो बुद्धिमान व्यक्ति के लिए उचित होगा कि वे गलती बता दें, समझा दें कि दुःख ही सब कुछ नहीं है।....

- गौतम बुद्ध जब सिद्धार्थ थे तब उन्होंने जरा-व्याधि-रोग-शोक को देखा था। उन यंत्रणाओं को देख कर उन्होंने सोचा था कि यही सब जीवन की एक मात्र चीज है। बुद्ध के समय ऐसे लोग कोई नहीं थे जो उन्हें समझाते कि यह चरम नहीं है, यह सब कुछ नहीं है, यही अंतिम बात नहीं है।....

- इसलिए मनुष्य को दुःख को साथ लेकर सभी सुखों का आकर उस धृति-वैभव की ओर दौड़ जाना होगा, यही मानव जीवन की चरम बात है और इसे पाना ही मानव जीवन की चरम संप्राप्ति है। इसी में मानव जीवन का चरम मूल्य प्रतिष्ठित होगा।....

- लेकिन बुद्ध ने सोचा था, जरा, व्याधि ही चरम सत्य है। इसी विश्वास के आधार पर उन्होंने चार आर्य-सत्य दिये।....

- बुद्ध की धारणा के अनुसार ये ही चारों सत्य मनुष्य के जीवन की चरम बातें हैं और ये ही 'चतुरार्यसत्यानि'।

- दुःख-बोध ही चरम सत्य नहीं है।....

- मनुष्य का जीवन हमेशा सुख की रंगीन शोभा-यात्रा नहीं है और हमेशा दुःख का झंझावात भी नहीं है। दोनों को मान कर चलना होगा, और यही आर्य-सत्य है। चतुरार्यसत्य प्रकृत आर्य-सत्य नहीं है।

- दुःखवादी दर्शन के अनुसार कभी कल्याण नहीं होता। बल्कि दुःखवाद को जकड़े रहने का अर्थ है - अकल्याण को ही ढोये चलना। आज से २५०० वर्ष पहले इस दुःखवाद का जो आधार तैयार हुआ था, उसने मनुष्य को संरचनात्मक काम में आगे बढ़ने की प्रेरणा नहीं दी।....

- संन्यासियों में जो लोग दूसरों के उपकार के लिए घर छोड़ कर निकलते हैं, उनका बाहर निकलना सार्थक है।....

- गौतम सिद्धार्थ सत्य की खोज में संसार छोड़ कर निकल पड़े थे। इसी कारण उनका घर छोड़ना बिल्कुल युक्तियुक्त नहीं था।....

- सत्य वही चरम तथा परम सत्ता है जो सर्वानुस्यूत है और जो सदा अपरिणामी है। इसलिए उसकी खोज में घर छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतएव सत्य की खोज में घर छोड़ना मानव जीवन के क्षेत्र में एक असत दृष्टांत है।

- जो अपरिणामी है, यही सत्य है। इसलिए जिस सत्य की खोज में बुद्ध निकले थे, वह बिल्कुल युक्तियुक्त नहीं था।

- बुद्ध ने सोचा, मगध में जाकर ऐसी शिक्षा देना उचित है जो वेद को चेलेंज कर सके।

- संजय नामक एक पंडित के आश्रम में जाकर उन्होंने कपिल दर्शन सीखा। अब प्रश्न है कि कपिल दर्शन सीखने के लिए इतनी दूर जाने की क्या जरूरत थी? इसके पीछे भ्रांति थी। बुद्ध ने कि सीएसे पंडित से शिक्षा नहीं पायी थी जो सिद्धार्थ को गृहत्याग तथा उस तरह के कर्म से विरत करते। परवर्तीकाल में इसका कुप्रभाव समाज में पड़ा। बहुत से लोगों को बौद्धों ने जबरदस्ती संन्यासी बना दिया जिसका फल अच्छा नहीं हुआ। इसलिए इस दृष्टि से बुद्ध का संन्यासी बनना उचित नहीं था।

इसे पढ़ कर भी यही लगा कि देश के समझदार से समझदार लोग भी किस प्रकार बुद्ध के बारे में सदियों से फैली हुई मिथ्या बातों से प्रभावित होते गये और अनजाने में उस मिथ्यात्व को और अधिक बढ़ावा देते गये।

यदि मूल वाणी न पढ़ी होती और इसे क्रियात्मक रूप देने वाली विपश्यना का गहन अभ्यास नहीं किया होता तो कौनजाने मैं भी आजीवन ऐसी ही मिथ्या विचारधारा का अनुयायी बना रहता।

२. दुःखवाद का मिथ्या आरोपण

बहुधा सच्चाई का ज्ञान न होने के कारण नासमझीवश बुद्ध पर दुःखवादी होने का मिथ्या आरोपण किया जाता रहा है। एक घटना -

युद्धपूर्व के बर्मा में भारत से एक आर्य समाजी प्रचारक मांडले आया था। उसने अपने प्रवचन में आर्य धर्म की महानता सिद्ध करते हुए बुद्ध धर्म की हीनता व्याख्यात की। उसने कहा, बुद्ध की केवल चार शिक्षाएं हैं - दुःख आर्य-सत्य, दुःखसमुदय आर्य-सत्य, दुःखनिरोध आर्य-सत्य, दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्य-सत्य। देखो, इन चारों में 'दुःख' शब्द का ही प्रयोग है। कहीं 'सुख' शब्द नहीं आया। उनकी शिक्षा में सुख का नाम तक नहीं है। वह दुःखवादी ही है। बुद्ध ने दुःख की ही शिक्षा दी। इस शिक्षा में यह जो 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह सर्वथा गलत है। क्या दुःख भी कभी आर्य हुआ है? आर्य तो सच्चिदानंद को कहते हैं। यहां न सत है, न चित्त है, न आनंद।

उन दिनों कि शोर अवस्था में मेरी भी बुद्धि अल्प थी। प्रचारक बड़ा प्रभावशाली वक्ता था। उसका कथन बहुत युक्तिसंगत लगा। यह बात मन में गहराई से समा गयी कि सचमुच बुद्ध की शिक्षा में दुःख ही दुःख भरा है, सुख का नाम तक नहीं। यह दुःखवादी शिक्षा है।

विपश्यना के पश्चात् जब बुद्ध की मूल वाणी में से गुजरा तब इन चारों आर्य-सत्यों का सही अर्थ समझ में आया। उस समय अपनी पूर्वकालीन अल्पज्ञता पर बहुत लज्जित हुआ।

बुद्ध ने जीवन-जगत की इन चार सच्चाइयों को बहुत विवरण के साथ समझाया है। उनकी वाणी पढ़ने पर ही इन शब्दों के सही अर्थ समझ में आये। इन्हें समझने में विपश्यना साधना ने भी बहुत सहायता की।

दुःख जीवन की एक सच्चाई है। उसका समुदय तृष्णाजन्य राग और द्वेष से होता है। इन कारणों का उत्खनन हो जाय तो दुःख का भी

मूलेच्छेदन अपने आप हो जाय। इसके लिए एक क्रियात्मक विधि है, एक प्रतिपदा यानी मार्ग है। आठ अंगों वाला मार्ग। शील-सदाचार का पालन करते हुए मन को वश में करना सीख कर अपनी प्रज्ञा जगाना, जिससे नये विकारों का प्रजनन रुके और पुराने संग्रह का निष्कासन हो, निर्मूलन हो। इस प्रकार मन को नितान्त निर्मूल कर लेना ही दुःख का नितान्त निरोध कर लेना है, इंद्रियातीत निर्वाण के परम सुख का साक्षात्कार कर लेना है। दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निवारण यानी निरोध और निरोध का उपाय। इन चारों को आर्यसत्य कहा गया। बुद्ध की शिक्षा का अंतिम लक्ष्य दुःखनिरोध है।

– निरोध आर्य सत्य को चार अर्थों में समझाया गया है।

१. **निस्सरणत्थ** – समस्त संचित क्लेशों के बाहर निकल जाने के अर्थ में।

२. **विवेकत्थ** – नए क्लेश उत्पन्न करने वाले स्वभाव से सर्वथा दूर हो जाने के अर्थ में।

३. **असङ्गतत्थ** – जहां कुछ सृजन नहीं होता, उस अजन्मा अवस्था का साक्षात्कार कर लेने के अर्थ में।

४. **अमृतत्थ** – जहां कुछ मृत नहीं होता, उस अमृत अवस्था का साक्षात्कार कर लेने के अर्थ में।

विपश्यना के अभ्यास द्वारा यह स्पष्ट समझ में आया कि मानस में राग-द्वेष के विकार जागते ही दुःख जागता है। विकार दूर होने पर दुःख दूर हो जाता है। जितने-जितने विकार दूर होते हैं उतना-उतना दुःख दूर होता है। यह भी समझ में आया कि सभी पूर्व संचित विकारों का निर्मूलन हो जाय और नए विकार बन नहीं पाएं तो दुःख का निरोध हो जाता है।

सहस्राब्दियां बीतते-बीतते भाषा बदल जाती है, भाषा के शब्द बदल जाते हैं, शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। आज 'निरोध' का सामान्य अर्थ 'रोकना' है। अतः आज की भाषा में दुःख को निरुद्ध कर देना कर्हें, यानी उसे रोकना कर्हें तो उस रोकथाम को तोड़ कर वह कभी भी पुनः अपना सिर उठा सकता है। परंतु उन दिनों की भाषा में 'निरोध' का अर्थ 'नितान्त

निर्मूलन' था। जिसकी पुनः उत्पत्ति न हो सके, वह 'निरोध' कहलाता था। उदाहरण देकर समझाया गया, जैसे कि सीताड़ के पेड़ का सिर काट दिया जाय तो वह मृत हो जाता है, उसमें नये पत्ते नहीं निकल सकते। अतः दुःखनिरोध हुआ; इसका अर्थ है दुःख सदा के लिए समाप्त हो गया। दुःख का पुनः उदय नहीं हो सकता। इसी को कहा गया -

- पहीनो, उच्छिन्नमूलो, तालावत्थुकतो, अनभावङ्गतो, आयतिं अनुष्पादधम्भो।

नष्ट हुआ, जड़ से उखाड़ दिया गया, सिरकटे ताड़ जैसा हो गया, अभाव को प्राप्त हो गया, पुनः न उत्पन्न होने का स्वभाव हो गया।

इसी प्रकार आज 'आर्य' शब्द का अर्थ केवल जातिवाचक हो गया है। एक जाति विशेष का व्यक्ति आर्य कहलाता है। उन दिनों भारत की जनभाषा में आर्य का अर्थ गुणवाचक था। व्यक्ति किसी जाति का हो, यदि वह धर्म के मार्ग पर चलते-चलते, शील-समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास करते-करते मुक्ति की चार मंजिलों में से पहली मंजिल तक भी पहुँच जाय तो वह आर्य कहलाता था। इस अवस्था को उन दिनों स्रोतापन्न कहते थे यानी वह व्यक्ति जो जन्म-मरण के चक्कर से सर्वथा मुक्त होने के स्रोत में पड़ गया। उसने आंशिक मुक्ति प्राप्त कर ली। वह अधोगति से नितांत विमुक्त हो गया। क्योंकि विपश्यना करते-करते उसने अधोगतियों की ओर ले जाने वाले सारे संचित कर्मसंस्कारों का क्षय कर लिया और पहली बार नित्य शाश्वत परम सत्य निर्वाण का साक्षात्कार कर लिया। अतः अब उसका स्वभाव इतना बदल गया कि वह अधोगति में जन्म देने वाला कोई नया कर्मसंस्कारबना ही नहीं सकता। यों मुक्ति की पहली मंजिल तक पहुँचा हुआ व्यक्ति आर्य कहलाने का अधिकारी हो गया। विपश्यना का अभ्यास कायम रखते हुए वह व्यक्ति शनैः शनैः सकदागामी और अनागामी की मंजिलों को पार करते हुए अरहंत की चौथी यानी अंतिम अवस्था प्राप्त कर लेता है। वहाँ पहुँचते-पहुँचते पुनर्जन्म देने वाले सारे पूर्वसंचित कर्मसंस्कारों का क्षय कर लेता है और भविष्य में नये भवप्रदायक कर्मसंस्कार बनाने का स्वभाव नष्ट कर लेता है। इस प्रकार नितांत भवमुक्त हो जाता है। यों पहली से लेकर चौथी अवस्था तक पहुँचा हुआ

प्रत्येक व्यक्ति आर्य कहलाता है। अतः आर्य-सत्य माने वह सच्चाई जिसका साक्षात्कार आर्य को हुआ है अथवा यों कहें कि वह सच्चाई जिसका साक्षात्कार करके कोई भी अनार्य व्यक्ति आर्य बन जाता है।

उन दिनों वैदिक भाषा को 'छांदस भाषा' कहते थे। बुद्ध के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् हुए विद्वान भाषाविद पंडित पाणिनि ने उन दिनों की भाषा के लिए नया व्याकरण बनाया और उसके नियमों से भाषा को बांध कर उसका संस्कार किया। इन नियमों से संस्कारित होकर जो नूतन भाषा बनी वह **संस्कृत** कहलायी।

बुद्धकालमें वैदिक साहित्य के लिए जो छांदस भाषा प्रचलित थी उसमें आर्य शब्द के जातिवाचक और गुणवाचक दोनों अर्थ प्रचलित थे। बुद्ध के बाद प्रचलित हुई पाणिनीय संस्कृत भाषा के साहित्य में भी पहले इन दोनों अर्थों का प्रयोग होता रहा, परंतु कुछ आगे चल कर इसमें एक नया अर्थ और जुड़ गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – इन तीनों वर्णों के लोगों को 'आर्य' कहा जाने लगा।

बुद्ध ने सारे उपदेश अपनी मातृभाषा में दिये जो कि उन दिनों 'कोशली' कहलाती थी। यह उन दिनों के कोशलदेश की प्राकृत भाषा थी यानी स्वाभाविक भाषा थी। इसमें छांदस अथवा संस्कृत की कृत्रिमता नहीं थी। भगवान बुद्ध की समस्त वाणी को इस प्राकृत भाषा ने सदियों तक पाल कर संभाल कर रखा, अतः यह 'पालि' कहलायी। कालांतरमें कोशलसहित सारे उत्तर भारत पर मगध सम्राट अशोक का प्रभुत्व हो गया और उसने बुद्ध की शिक्षा के साथ-साथ उनकी भाषा भी अपना ली। तब से यह भाषा 'मागधी' कहलाने लगी। इस भाषा में आर्य शब्द को 'अरिय' कहा गया जो कि स्रोतापन्न से लेकर अरहंत अवस्था तक पहुँचे हुए सभी व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है।

पालि भाषा में दी गयी बुद्ध की शिक्षा में **अरिय** (आर्य) शब्द की व्याख्या कहीं भी जातिवाचक अर्थ में नहीं हुई, सदैव गुणवाचक अर्थ में ही हुई है, जैसे कि –

विसुद्धो उत्तमोति अरियो

- जो विशुद्ध है, उत्तम है, वह आर्य है।

अरियोति कि लेसेहि आरक। टितो परिसुद्धो

- वासनारूपी क्लेश से आरक। यानी दूर स्थित होकर रजो परिशुद्ध है, वह आर्य है।

अनये न इरीयतीति अरियो

- जो अनय यानी अधर्म के रास्ते नहीं चलता है, वह आर्य है।

अहिंसा सब्ब पाणानं अरियोति पवुच्चति

- जो सब प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव रखता है, वह आर्य कहलाता है।

अरियफल पटिलाभतो अरियोति

- जिसने आर्यफल (निर्वाणिक अवस्था) प्राप्त कर ली, वह आर्य है। जो इस आर्यफल से पृथक है, वह पृथक जन कहलाता है। इसीलिए कहा गया -

हीनो गम्मो पथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो

- जो अनार्य (अनरियो) है, वह हीन है, गँवार है, पृथग्जन है, अनर्थ संग्रह करने वाला है।

यही अनरियो शब्द आगे जाकर बदलते-बदलते आज की हिंदी में 'अनाड़ी' हो गया। सचमुच जो धर्म के रास्ते नहीं चलता है, वह अनाड़ी ही है।

इसीलिए यह कहा गया -

अरियोति पथुज्जनभूमि अतिक्रान्तो

- आर्य वह है जिसने 'पृथग्जन' (अनार्य) भूमि का अतिक्रमण कर लिया है, उससे आगे निकल गया है।

इसी प्रकार अरियसच्चानि (आर्यसत्यानि) की व्याख्या है -

अरिया इमानि पटिविज्जन्ति तस्मा अरियसच्चानीति वुच्चन्तीति

- जिन सच्चाइयों को आर्य जान गये हैं, वे **अरियसच्चानि** (आर्यसत्यानि) कहलाती हैं।

अविद्या के आवरण का भेदन कर सच्चाई को स्वानुभूति से जानना भगवान की शिक्षा में **पटिविज्ञाति** कहलाता है।

भगवान महावीर ने जिस भाषा में उपदेश दिया वह अर्धमागधी कहलाती थी। उस भाषा में भी छांदस और संस्कृतभाषा के “आर्य” शब्द के स्थान पर जनभाषा का “अरिय” शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। इसमें भी इस शब्द का प्रयोग गुणवाचक अर्थ में हुआ है। ऐसी मान्यता है कि दक्षिण में ‘अरिय’ का ‘अय्या’ बना, यही ‘अय्यर’ बना। ‘अरियगुरु’ का ‘अय्यंगर’ बना। शायद अनार्य का ही नैय्यर बना। वहां ये शुद्ध जातिवाचक हो गये।

परम सत्य

सिद्धार्थ गौतम ने बोधगया में सम्यक संबोधि प्राप्त की और सम्यक संबुद्ध बने। तदनंतर कपिलवस्तु से आये हुए पांच ब्राह्मण साथी तपस्वियों को उन्होंने वाराणसी में अपना प्रथम उपदेश दिया। उसमें इन चारों आर्य-सत्त्यों का प्रयोगात्मक विवरण समझाया। यह स्पष्ट किया कि चारों आर्य-सत्य इंद्रियातीत, नित्य, शाश्वत, ध्रुव, निर्वाणिक परम सत्य तक कैसे पहुँचाते हैं। उन्होंने समझाया कि इन चारों आर्य सत्त्यों को तिहरे रूप में यानी कुलमिला कर बारह प्रकार से **तिपरिवट्टं द्वादसाकारं** अभ्यास करते हुए कोई व्यक्ति परम सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। वस्तुतः उनके उपदेशानुसार किसी भी एक आर्यसत्य में चारों समाये हुए हैं। जैसे दुःखआर्यसत्य को परिज्ञान करना सिखाया। इसमें शेष तीन समा गये। परिज्ञान का अर्थ है ‘पर्यन्त ज्ञान’ यानी दुःख की अंतिम परिधि तक का ज्ञान। यह तभी संभव है जब कि दुःख की सीमा का संक्रमण हो जाय, अतिक्रमण हो जाय। दुःख की परिधि को पार कर लेने का अर्थ हुआ दुःखनिरोध के क्षेत्र में पर्यवसान हो जाना। दुःख का दुःखनिरोध में परिणत हो जाना। गंभीर विपश्यी इसे खूब समझता है। अन्यथा मात्र दुःख को कोई आर्यसत्य कैसे कहेगा ?

इस मुक्तिदायिनी विधि का अनुगमन करते हुए एक सप्ताह के भीतर पहले-पहल उन पांच ब्राह्मण तपस्वियों ने परम मुक्त अवस्था प्राप्त की। बुद्ध के बाद ये पांच और अरहंत हुए। विपश्यना विद्या फलदायी सिद्ध हुई। तत्पश्चात् कुछ दिनों तक वहीं और फिर ४५ वर्षों तक, मगध में बहुत कम, परंतु आज के राजस्थान की पूर्वी सीमा से लेकर बंगाल की पश्चिमी सीमा तक अनवरत लोक-सेवा की धर्मचारिका करते हुए भगवान बुद्ध विपश्यना विद्या के अभ्यास से इन्हीं चार आर्य-सत्त्यों द्वारा नित्य, शाश्वत, ध्रुव, परम सत्य का दर्शन किये जाने का मार्गदर्शन देते रहे। इसके फलस्वरूप उनके जीवनकाल में ही एक नहीं, दो नहीं, सौ नहीं, हजारों की संख्या में गृहत्यागी भिक्षुणियां और भिक्षु अरहंत हुए और भव-संसरण से छुटकारा पाकर, नितांत दुःख-विमुक्त हुए तथा अन्यान्य भिक्षु भिक्षुणियों सहित लाखों की संख्या में गृहस्थ परम सत्य का प्रथम साक्षात्कार कर स्रोतापन्न हुए। अनेक सकदागामी और अनागामी हुए। यही विपश्यना विद्या इन्हीं चार आर्य-सत्त्यों का सहारा लेकर लगभग पांच सौ वर्षों तक अपने देश के करोड़ों लोगों का कल्याण करती हुई उन्हें इसी जीवन में दुःख-विमुक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव कराती रही।

हमारा यह दुर्भाग्य रहा कि यह कल्याणी विद्या और तत्संबंधी साहित्य हमने अपने देश से पूर्णतया खो दिया और इसके लाभ से वंचित रह गये। इन दोनों के अभाव में इनकी सच्चाई से सर्वथा अनभिज्ञ कोई व्यक्ति दुःख आर्य-सत्य को परम, चरम सत्य न मान कर इस पर टीका-टिप्पणी करे, इस पर व्यंग्य कसे तो बुद्ध का क्या दोष? बुद्ध की कल्याणी विपश्यना विद्या क्या दोष? भगवान बुद्ध की मूल वाणी और उनकी सिखायी हुई विपश्यना विद्या के लुप्त हो जाने पर ही अपने देश में ऐसी अनेक मिथ्या विचारधाराएं जननीं और पनपीं।

* * *

३. दुःख-विमुक्ति की विधि सिखाने वाले को

दुःखवादी कै से कहें?

कोई एक अनुभवी वैद्य किसी रोगी की चिकित्सा करने आता है। वह रोगी को समझाता है कि तुम्हारा यह रोग है। तुम्हारे रोग का यह कारण है और मेरे पास यह औषधि है। इसके सेवन से रोग का कारण दूर हो जायेगा और परिणामतः रोग दूर हो जायेगा। रोगी उस औषधि का सेवन करके निरोग हो जाता है। तब क्या हम उस उपकारी वैद्य को रोगवादी कहेंगे या निरोगवादी?

ठीक इसी प्रकार एक महापुरुष हम दुःखियारों को समझाता है कि तुम्हारा यह दुःख है। तुम्हारे दुःख का यह सही, मूल कारण है। मैं इस दुःख को नष्ट करने का उपाय बताता हूँ। इसका अभ्यास करके तुम दुःख के कारण को दूर कर लोगे और परिणामतः दुःख से मुक्त हो जाओगे। विकारों से व्याकुल दुःखियारे लोग उस उपाय का उपयोग करके वस्तुतः दुःखमुक्त होते हैं। ऐसे दुःखविनाशी महापुरुष को हमारे द्वारा 'दुःखवादी' कहना क्या हास्यास्पद नहीं हुआ?

आर्य-सत्यों का दर्शन प्रत्यक्ष फलदायी है।

विपश्यना साधना द्वारा जिन्होंने आर्य-सत्यों का स्वयं साक्षात्कार कर लिया है, उनके बारे में कहा गया -

“.....चतुर्भि वातेहि असम्पक् म्पियो.... यो अरियसच्चानि अवेच्च पस्सति।”

- जिन्होंने आर्य-सत्यों का अनुभूतिजन्य दर्शन कर लिया, वे (नगर-द्वार पर गहराई से गाड़े गये स्तंभ की भांति) चारों ओर से आने वाली तूफानी हवाओं से अकंपित रहते हैं।

और यह भी कहा गया -

ये अरियसच्चानि विभावयन्ति, न ते भवं अट्टमादियन्ति ।

-जिन्होंने आर्य-सत्त्वों की भली-प्रकार भावना (साधना) कर ली है, वे (स्रोतापन्न) आठवां जन्म ग्रहण नहीं करते।

यानी अधिक से अधिक सात जन्मों में भव-विमुक्त अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

आर्य-सत्त्वों के साक्षात्कार की शिक्षा केवल भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए ही नहीं है। गृहस्थों को **मंगल-धर्म** का उपदेश देते हुए भगवान बुद्ध ने कहा -

तपो च ब्रह्मचरियं च, अरियसच्चान दस्सनं।

निब्बान सच्छिकिरिया च, एतं मङ्गलमुत्तमं ॥

-तप, ब्रह्मचर्य, आर्यसत्त्वों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार, ये उत्तम मंगल हैं।

अतः यह कल्याणी शिक्षा गृहस्थ अथवा गृहत्यागी सबके लिए है।

क्या महर्षि पातंजलि भी दुःखवादी थे

भगवान बुद्ध के लगभग चार सौ वर्ष बाद हुए सम्राट पुष्यमित्र शुंग के पुरोहित महर्षि पातंजलि ने मुख्यतः विपश्यना के आधार पर योगसूत्र लिखा। उसमें दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग के स्थान पर चार अन्य समानार्थी शब्दों का प्रयोग किया गया। उन्हें हेय, हेतु, हान और उपाय कहा गया।

यह बुद्ध के चतुरार्यसत्त्व ही हैं। केवल समानार्थी शब्द बदले हैं, दुःख को हेय कहा गया है। तो क्या हम इस कारण महर्षि पातंजलि को हेयवादी कहेंगे, दुःखवादी कहेंगे? जबकि महर्षि पातंजलि ने तो **दुःखमेव सर्वं विवेकिनः** (योगसूत्र २-१५) का भी उद्घोष किया है। वस्तुतः सक्रिय साधना के क्षेत्र में कोई भी गंभीर साधक यह अनुभव करता है कि भव-संसरण का सारा क्षेत्र दुःखद है। परंतु इससे छुटकारा पाने का मार्ग भी है। ऐसी दुःखविमुक्ति के मार्गदाता भगवान बुद्ध को दुःखवादी कह कर लंछित किया जाना कितना गलत हुआ। ***

४. मिथ्यात्व का प्रचार प्रसार

भारत से पालि भाषा की मूल बुद्धवाणी और तत्संबंधित प्रयोगात्मक विपश्यना साधना के सर्वथा विलुप्त हो जाने के कारण भगवान बुद्ध पर दुखवादी होने का जो मिथ्या लांछन लगाया गया वह प्रचलित हो गया और यह मिथ्यात्व लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक दोहराया जाता रहा। इससे अनेक लोग भ्रमित हुए। अन्यथा आज के युग का बहुजन पूजित विद्वान तांत्रिक धर्मगुरु जिसके भारत में और विश्व में अनेक श्रद्धालु शिष्य हैं, वह बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में ऐसा निराधार वक्तव्य कैसे दे सकता था -

मनुष्य का जीवन हमेशा सुख की रंगीन शोभा यात्रा नहीं है और हमेशा दुःख का झंझावात भी नहीं है। दोनों को मान कर चलना होगा।

इस लांछन का अर्थ है कि बुद्ध को इन दोनों अवस्थाओं का जरा भी ज्ञान नहीं था। और यह भी लांछन कि उनकी शिक्षा के अनुसार -

मनुष्य के जीवन में आरंभ से अंत तक -आरंभ में, मध्य में और अंत में केवल दुःख है।

मूल बुद्धवाणी के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। कि यह दोनों आरोप कि तनेबेबुनियाद हैं। बुद्ध ने एक से अधिक बार कहा है कि जीवन में सुख और दुःख दोनों ही आते-जाते रहते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा -

दुःखस्सन्तरं सुखं - दुःख के अनंतर सुख आता है।

सुखस्सन्तरं दुःखं - सुख के अनंतर दुःख आता है।

इस प्रकार सुख और दुःख आगे-पीछे एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। सुख-दुःख, दुःख-सुख की यह भवशृंखला न जाने कबसे चली आ रही है। दुःख के बाद सुख का आना प्रिय अवश्य लगता है परंतु स्थायी नहीं होता। जब वह देर-सबेर दुःख में बदलता है तब उसकी पीड़ा, अनित्यधर्मा सुख के आगमन के हर्ष की तुलना में कई गुना अधिक प्रभावी होती है। इसी कारण इस दुःखद भवसंसारण के मूल कारण और इसे निरंतर चलायमान रखने के

लिए ऊर्जा प्रदान करने वाले सभी तृष्णाजन्य कर्मसंस्कारोंको भगवान बुद्ध ने **सब्वे सद्धारु दुख्ख** कहा तो क्या अनुचित किया ?

जन्म-मरण के भवसंसारण को भारत की सभी अध्यात्म परंपराएं दुखद मानती हैं। जब भवसंसारण दुखद है तो उसके कारणको कोई दुखद न कहे तो और क्या कहे? जहां बुद्ध ने पुनर्जन्म देने वाले सभी तृष्णाजन्य कर्मसंस्कारोंको दुःखद कहा वहां बुद्ध की समस्त शिक्षा को “सर्व दुःखम् , सर्व दुःखम्!” का लेबल लगा कर लंछित किया जाना कैसे न्यायसंगत माना जाय? और यह भी उस हालत में जब कि बुद्ध की संपूर्ण शिक्षा का अंतिम लक्ष्य यही है कि भवसंसारण के दुखों से मुक्त होकर अविनाशी परम सुख अमृत का साक्षात्कार करें। यह लक्ष्य सभी धार्मिक परंपराओं का है जबकि बुद्ध उस अवस्था तक पहुँच सकनेके लिए विपश्यना विद्या सिखाते हैं, जहां पहुँच कर -

विसद्धारगतं चित्तं - चित्त सभी पूर्व संचित भवजनक कर्मसंस्कारोंसे विमुक्त हो जाता है और साधक **तण्हानंखयमज्झगा** की अवस्था को प्राप्त कर लेता है जहां तृष्णा का पूर्णतया क्षय हो जाता है। यानी पुनर्जन्म के लिए नए कर्मसंस्कारबन्ने बंद हो जाते हैं। **खीणं पुराणं नवं नत्थि सम्भवं** सभी पुराने भवदायी संस्कार नष्ट हो जाते हैं और नए बन नहीं पाते। परिणामतः साधक भव-संसारण से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

जीवन में सतत बदलते रहने वाले सुख और दुःख दोनों को लिये हुए चलायमान भवसंसारण और उसके मूलभूत कारणको दुःखजनक बता कर, उससे छुटकारा दिलाने वाली और अविनाशी परम सुख तक पहुँचाने वाली विपश्यना विद्या और उसके शिक्षक महाकारुणिक विश्ववंधु भगवान बुद्ध को दुःखवादी कह कर निंदित किया जाना कि तना तथ्य-विरुद्ध है यह उनकी समस्त मूल वाणी और प्रयोगात्मक विपश्यना विद्या के स्वदेश पुनरागमन से अत्यंत स्पष्ट हो गयी है। अब इस मिथ्यात्व को न दोहराने में ही हमारा कल्याण है।

* * *

५. दुःखनिवारक सुखप्रसारक बुद्ध

राजकुमार सिद्धार्थ गौतम द्वारा गृहत्यागने के प्रसंग को लेकर यह एक आलोचनाभरी टिप्पणी सामने आयी -

“संन्यासियों में जो लोग दूसरों के उपकार के लिए घर छोड़ कर निकलते हैं, उनका बाहर निकलना सार्थक है।...”

“गौतम सिद्धार्थ सत्य की खोज में संसार छोड़ कर निकल पड़े थे। इसी कारण उसका घर छोड़ना बिल्कुल युक्तियुक्त नहीं था।”

इसका अर्थ यह हुआ कि गौतम सिद्धार्थ ने दूसरों के उपकार के लिए घर नहीं छोड़ा। केवल सत्य के बारे में अपना कौतूहल पूरा करने के लिए घर छोड़ा। अथवा यह मान लें कि उसने केवल अपने उपकार के लिए घर छोड़ा। अतः उनका घर छोड़ना सार्थक नहीं था, युक्तियुक्त नहीं था। यह टिप्पणी पढ़ कर दुःखद आश्चर्य हुआ कि अपने देश के प्रखर बुद्धशाली लोगों के मानस में भी बुद्ध के जीवन की वास्तविकताओं के बारे में कि तनी भ्रांतियां समायी हुई हैं। स्पष्ट है कि देश में मूल बुद्धवाणी के लुप्त हो जाने का ही यह दुःखद परिणाम है। बुद्धवाणी के अध्ययन से ऐसी निराधार भ्रांतियां स्वतः दूर हो जाती हैं।

राजकुमार सिद्धार्थ गौतम ने उन्तीस वर्ष की युवावस्था में जब जरा, व्याधि और मृत्यु की सच्चाइयां देखी तब वह इसलिए व्याकुल नहीं हुआ कि एक दिन उसकी भी यही दशा होने वाली है। वास्तविकता यह है कि उसके मन में सभी प्राणियों के प्रति करुणा जागी क्योंकि उसने जाना कि जन्म लेने वाले सभी प्राणी इन दुःखों में से गुजरते हैं। प्रश्न मन में यह उठा कि क्या इन दुःखों से छुटकारा पाने का कोई उपाय है? साथ-साथ मन में यह विश्वास भी जागा कि -

यथापि दुक्खे विज्जन्ते, सुखं नामा'पि विज्जति।

-जहां इतने दुःख विद्यमान हैं वहां (परम) सुख भी विद्यमान है ही।

एवं एव जाति विज्जन्ते, अजाती'पि इच्छितब्बकं ।

– जहां (बार-बार का) जन्म विद्यमान है वहां वांछित अजन्मावस्था भी विद्यमान है ही।

एवं कि लेसपरिरुद्धो, विज्जमाने सिवे पथे ।

– इसी प्रकार पापजन्य क्लेशों से घिरे हुआं के लिए मंगलमयी मुक्ति का पथ भी विद्यमान है ही।

परियेसिस्सामि तं मगं भवतो परिमुत्तिया ।

– मुझे उसी मार्ग की खोज करनी है जो भवसंसरण से मुक्ति दिलाता है।

मुक्तिपथ की यह गवेषणा केवल अपने लिए ही नहीं, बल्कि संसारसंसरण से उत्पीडित सभी प्राणियों के लिए थी।

किं मे एकेन तिण्णेन, पुरिसेन थामदस्सिना ।

सब्बञ्जुतं पापुणित्वा, सन्तारेस्सं सदेवकं ॥

– विपुल पुरुषार्थ द्वारा सत्य दर्शन करके मेरे अकेले के तर जाने से क्या होगा ? मैं सम्यक संबोधि की सर्वज्ञता प्राप्त करके अनेक देव-मनुष्यों के तरने में सहायक बनूं।

ऐसे उदात्तभाव उसके मन में जागने स्वाभाविक थे, क्योंकि यही भाव अनेक जन्मों से उसके मानस में समाये हुए थे। इस शुभ संकल्पके कारण ही वह असंख्य कल्पों तक बोधिसत्व के रूप में भवभ्रमण करते आ रहा था और प्रत्येक जन्म में तत्कालीन प्राणियों के हितसुख में संलग्न रहते हुए पर्याप्त मात्रा में अपनी सारी पारमिताएं परिपूर्ण कर रहा था।

अब उस बोधिसत्व का यह अंतिम जन्म था। संबोधि जगा कर उसे अपने आप को भवमुक्त करना था तथा औरों की मुक्ति में सहायक बनना था। यह सच है कि अपने आपको मुक्त करना उसकी प्राथमिक आवश्यकता थी। जो स्वयं अंधा हो वह अन्य अंधों को कैसे रास्ता दिखा सकेगा ? जो स्वयं लंगड़ा हो वह अन्य लंगड़ों को कैसे सहारा दे सकेगा ? जो स्वयं बंदी हो वह अन्य बंदियों को कैसे मुक्ति का मार्ग बता सकेगा ? अतः

गृह त्यागने का अभिप्राय परम सत्य जानने का कौतूहल पूरा करना नहीं था और न ही केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करना था, प्रत्युत अनेकों के हितसुख के लिए था। इस सच्चाई को जाने समझे बिना बोधिसत्व सिद्धार्थ पर व्यंग कसना कि तना दुर्भाग्यपूर्ण हुआ।

उसे इसलिए भी लंछित किया गया कि उसने परमसत्य की खोज के लिए घर क्यों छोड़ा? यह सच है कि परम सत्य सर्वानुस्युत है, सबके अपने साथ जुड़ा हुआ है। परंतु अपने भीतर के उस परमसत्य का साक्षात्कार करने की विधि तो लुप्त हो ही चुकी थी। उस विधि की खोज के लिए घर छोड़ना आवश्यक था। यदि यह मुक्तिदायिनी विपश्यना विद्या उस समय कायम होती तो उसे खोजने की आवश्यकता नहीं होती। परंतु कोई सम्यक संबुद्ध उसी कालमें उत्पन्न होता है जब कि संसार से विपश्यना विद्या नितांत विलुप्त हो चुकी होती है। केवल पहले से आठवें तक के लौकिक ध्यान बचे रहते हैं। वे भी सर्वानुस्युत हैं अतः भ्रांति पैदा करते हैं। लोग उनमें से किसी एक के सुख को, आज की भाषा में आनंद को परम सुख स्वरूप मान कर संतुष्ट रहते हैं। इंद्रियातीत लोकोत्तर अवस्था तक पहुँचाने वाली विपश्यना विद्या विलुप्त हो जाती है। बोधिसत्व अपने परिश्रम पुरुषार्थ द्वारा उसे पुनः खोज निकालता है।

यह सच्चाई भी ध्यान देने योग्य है कि बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम ने जीवनजगत की इन तीन दुःखद सच्चाइयों को देखने के बाद एक श्रमण को भी देखा। किसी शांतचित्त श्रमण को देख कर राजकुमार ने उससे इस विषय पर कोई वार्तालाप नहीं किया, यह कैसे संभव है? राजकुमार ने उस श्रमण से यह जाना होगा कि परममुक्त अवस्था कहीं बाहर नहीं मिलती। यह तो अपने भीतर ही है। परंतु उसे प्राप्त करने की ध्यान-विधि जाने बिना उस अवस्था तक कोई पहुँच नहीं पाता। घर बैठे यह विद्या प्राप्त नहीं हो सकती थी। इसकी खोज के लिए उन दिनों श्रमण परंपरा के जो भी आचार्य थे उनके पास जाकर इसे सीखना आवश्यक था। यह श्रमण भी स्वयं इसी प्रयत्न में लगा था।

कपिलवस्तु पर श्रमण परंपरा का गहरा प्रभाव था। इस कल्पके तीन पूर्व बुद्धों में से दो सम्यक संबुद्ध ककुच्छंद और कोणागमन के स्तूप वहां

विद्यमान थे। श्रमण परंपरा की विपश्यना विद्या अवश्य लुप्त हो चुकी थी। परंतु ध्यान की परंपरा कायम थी। शाक्य देश के पूर्व की ओर कालाम गणतंत्र का आचार्य अलारकलाम इस विद्या का प्रसिद्ध मार्गदर्शक था। उसका एक केंद्रक पिलवस्तु में भी था। परंतु मुख्य केंद्र मगध में था। तपस्वी श्रमण से राजकुमार को यह विदित हुआ होगा कि आचार्य अलारकलाम इस समय मगध स्थित अपने मुख्य केंद्र में विहार कर रहे हैं। उनसे अंतर्मुखी होने की विद्या सीखने के लिए उसे घर छोड़ना आवश्यक था। राजकुमार ने गृहत्याग कर मगध में उनसे सातवां ध्यान सीखा। उससे ध्यानसुख मिला परंतु नितान्त मुक्त अवस्था प्राप्त नहीं होने के कारण श्रमणसंस्कृति के दूसरे आचार्य उद्दक रामपुत्र के पास जाकर उससे आठवां ध्यान सीखा। परंतु उससे भी लक्ष्यपूर्ति नहीं हुई। तब छः वर्षों तक देह-दंडन की कठिन दुष्क रचर्या की। वह भी निष्फल रही। तदनंतर स्वयं खोज करते हुए शील, समाधि और प्रज्ञा की यह आठ अंग वाली विपश्यना विद्या ढूंढ निकाली। इसके द्वारा स्वयं भवमुक्त हुए, सम्यक संबुद्ध हुए। 'सम्यक संबोधि' की यह अवस्था शास्त्र पठन द्वारा उपलब्ध नहीं हुई। दार्शनिक बुद्धिकि लोल द्वारा नहीं मिली। किन्हीं गुरुजनों से भी प्राप्त नहीं हुई। मुक्तिदायिनी विपश्यना विद्या उस समय संसार से लुप्त हो चुकी होती है। अतः बोधिसत्व को स्वयं अपने श्रम से यह विद्या खोजनी होती है। और यही सिद्धार्थ गौतम ने किया और वे सम्यक संबुद्ध बने।

जब कोई व्यक्ति सम्यक संबोधि प्राप्त कर लेता है तो उसका हृदय अनंत मैत्री और अनंत करुणासे भर उठता है। इस कल्याणी विद्या को वह अधिक अधिक संख्या में योग्य पात्रों को बांटना चाहता है। इसी करुण भावना से प्रेरित होकर गौतम बुद्ध ने वाराणसी के मृगदाय उपवन में जाकर कपिलवस्तुसे आए हुए अपने पांच तपस्वी साथियों को यह मुक्ति का मार्ग सर्वप्रथम सिखाया, जिससे कि वे भी अरहंत अवस्था प्राप्त कर भवमुक्त हो परम सुखलाभी हुए। तदनंतर तीन महीने के वर्षावास में वहीं रहते हुए पचपन अन्य मुमुक्षुओं को इसी मुक्ति के मार्ग का अभ्यास कराकर उन्हें परम भवमुक्त अरहंत अवस्था प्राप्त कर सकने में सहायक बने।

यों जब साठ अरहंत तैयार हो गए तब उन्हें **चरथभिक्षवे चारिकं** का ऐतिहासिक धर्म-उद्बोधन दिया। अनेकों को इस कल्याणी विद्या का लाभ मिले, इस निमित्त उन्हें प्रेरित किया कि वे -

बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय

-बहुतों के हित के लिए, बहुतों के सुख के लिए, लोगों पर अनुकंपा करते हुए स्थान-स्थान पर विचरण करें। दो भिक्षु एक साथ न जायें। सब अलग-अलग विहार करें, अलग-अलग स्थानों पर धर्मचारिका करें ताकि अधिक से अधिक लोगों का भला हो। वे बहुतों के हितसुख के लिए **आदि में, मध्य में और अंत में कल्याणकारीपरम परिशुद्ध और परम परिपूर्ण धर्म प्रकाशित करें।**

धर्म का यह शुद्ध मार्ग शील से आरंभ होता है, यदि कोईकेवलइसी का अभ्यास कर ले तो इस जीवन में भी सुखलाभी हो और मरणोपरांत देवलोक में जन्म लेकर दिव्य सुखलाभी हो। वह यदि सम्यक समाधि का भी अभ्यास कर ले तो इस जीवन में भी ध्यानसुखलाभी हो और मरणोपरांत ब्रह्मलोक में जन्म लेकर विपुल ब्राह्मी सुखलाभी हो। और यदि वह अपनी प्रज्ञा जगा कर सारे पूर्व संचित कर्मसंस्कारों का क्षय कर ले तो यहां भी जब चाहे तब उपधिशेष निर्वाणिक निरोध समाप्ति का अमित सुख प्राप्त करे और मरणोपरांत भवसंसार के दुःखों से नितान्त विमुक्त होकर निरुपधिशेष परिनिर्वाण के परमसुख से लाभान्वित हो। यों आदि, मध्य और अंत में कल्याणकारीशील, समाधि और प्रज्ञा का यह आर्य अष्टांगिक मार्ग सर्वथा परिपूर्ण है। इस अर्थ में कि इसमें अन्य कुछ जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। यह नितान्त परिशुद्ध है - इस अर्थ में कि इसमें से अशुद्ध मान कर कुछ भी निकालनेकी आवश्यकता नहीं है।

यों जिस विद्या से ये साठ अरहंत स्वयं हित-सुखलाभी हुए, उसे वे आजीवन अत्यंत करुणचित्तसे बहुजनों में वितरित करते रहे। उनके सामने केवल एक ही लक्ष्य था **“बहुजनहिताय बहुजनसुखाय”** ।

सम्यक संबुद्ध सिद्धार्थ गौतम ने अपने जीवन के शेष पैंतालीस वर्षों में ऐसे हजारों अरहंत प्रशिक्षक तैयार किये और उनके अतिरिक्त स्वयं भी दूर-दूर तक के जनपदों में शुद्ध धर्म का परम शांतिसुखदायी अमृत रस बांटने में लगे रहे। महाकारुणिक बुद्ध ने अपना शेष जीवन अहर्निश सुख बांटने और बँटवाने में ही लगाया। उनके पश्चात् इस श्रमण परंपरा ने सदियों तक लोगों को विपश्यना का मुक्तिसुख बांटा। बहुजन को सुख बांटने वाले ऐसे बहुजन हितकारी बुद्ध पर यदि हम यह लांछन लगाते हैं कि उन्होंने परोपकार के उद्देश्य से घर नहीं छोड़ा और जो परम सत्य उन्हें घर बैठे अपने भीतर ज्ञात हो सकता था, उसके लिए उन्होंने व्यर्थ ही घर छोड़ा तो इस परंपरा के पूर्ण इतिहास को और बुद्ध की वाणी तथा विपश्यना के सुखद परिणामों को जानने वाले लोग हमें किस नजर से देखेंगे? हम ऐसी निराधार लांछन लगाने की भूलें सदियों से करते चले आ रहे हैं। पड़ोसी देशों के लोगों के सामने हम अपने आपको हास्यास्पद बनाए जा रहे हैं। समय आ गया है कि अब होश में आएं और ऐसी गलतियों को न दोहराएं। इसी में हमारा कल्याण है, हमारी प्रतिष्ठा है।

*** **

भगवान बुद्ध पर यह भी एक लांछन लगाया जाता है कि अपनी सुंदरी युवा पत्नी को, नवजात शिशु को और वृद्ध माता-पिता को अश्रुमुख छोड़ कर उनका गृहत्यागना उचित नहीं था। वे यह भूल जाते हैं कि गृही जीवन जीते हुए वे जो सांसारिक सुख प्रदान कर सकते थे, उससे कहीं अधिक और अतुलनीय भवविमुक्ति का परम सुख उन्हें प्रदान किया। उनके परिवार का एक भी व्यक्ति इस विमुक्तिसुख से वंचित नहीं रहा। सामान्य सांसारिक सुख की तुलना में विकार-विमुक्ति का सुख कि तना महान है यह विपश्यना के गंभीर अनुभवों से प्रत्यक्ष जाना जाता है।

६. सुखवादी बुद्ध

भव-संसारण के दुःखों से नितांत विमुक्त हुए बुद्ध हर स्थिति में अपरिमित सुख का ही जीवन जीते रहे और जन-जन को सुख ही बांटते रहे। उनके जीवन की एक घटना -

एक बार भगवान आळवी राष्ट्र में गौओं के आवागमन के मार्ग पर पेड़ से गिरे पत्तों के आसन पर सोये थे। उस समय हत्थक नामक आळवक राजपुत्र घूमने निकला। उसने भगवान को वहां देख कर पूछा -

- भंते, भगवान, क्या सुख से सोये?

भगवान ने उत्तर दिया - हां, कुमार, मैं सुख से सोया। जो लोग इस संसार में सुख से सोते हैं, मैं उनमें से एक हूँ।

इस पर आळवक ने कहा -

हेमंत ऋतु की ठंडी रात है। माघ और फाल्गुन के बीच का आठ दिनों का समय है। हिमपात का मौसम है। गौओं के खुरों से खुरदरी हुई कठोर भूमि है। पत्तों का पतला बिछौना है। पेड़ों पर बहुत कम पत्ते हैं। चारों ओर से ठंडी हवाएं बह रही हैं और आपने ठंडे काषायवस्त्र पहने हैं। आप किस प्रकार सुख से सोये?

इस पर भगवान ने कहा -

एक गृही अथवा गृहीपुत्र पक्की बंद हवेली में मुलायम गद्दे, तकिये और रजाई लेकर सोता है। परंतु हो सकता है उसमें कामराग की अग्नि जल रही हो। वह उस रागजन्य दाह से जलता हुआ दुःख से ही सोता है। तथागत का वह राग प्रहीण हो गया है। नष्ट हो गया है। जड़ से उखड़ गया है। सिर कटे ताड़ वृक्ष जैसा टूट हो गया है जिसमें अब कुछ नहीं उग सकता। अभाव को प्राप्त हो गया है। भविष्य में उसका उत्पाद नहीं हो सकता। ऐसा वीतराग अरहंत सुख से ही सोता है।

ऐसी ही एक और घटना -

अनाथपिंडिक राजगृह में पहली बार भगवान से मिलने गया। रात बीतने में अभी देर थी। भगवान खुले में चंक्रमण कर रहे थे। यह देख कर उसने भगवान से पूछा -

- भंते, भगवान, क्या सुख से सोये?

भगवान ने उत्तर दिया -

**सब्बदा वे सुखं सेति, ब्राह्मणो परिनिब्बुतो।
यो न लिम्पति कामेसु, सीतिभूतो निरूपधि॥**

-जो अनासक्त हो गया, शीतलीभूत हो गया, कामराग में लिप्त नहीं होता, वह निर्वाण का परिपूर्ण साक्षात्कार करने वाला ब्राह्मण सदा सुख से सोता है। फिर कहा -

**सब्बा आसत्तियो छेत्वा, विनेय्य हृदये दरं।
उपसन्तो सुखं सेति, सन्ति पप्पुय्य चेतसा॥**

-सारी आसक्तियां नष्ट कर, हृदय से भय दूर कर, चित्त-शांति प्राप्त कर,

मुक्त, अनासक्त अरहंत सुख से ही सोता है।

उपसन्तो उपरतो

जो राग से विरत उपरत हो जाता है वही उपसन्त होता है, शांतचित्त होता है। भगवान बुद्ध अरहंत हुए। उपरत हुए, उपसंत हुए।

इसी अवस्था को प्राप्त एक वृद्धा साध्वी को कहा गया -

सुखं त्वं बुद्धिके सेहि, उपसन्तो ही ते रता।

- तू सुख से सो। तेरा राग शांत हो गया।

जिनका राग शांत हो गया, वे वीतराग अरहन्त हो गये। वे सदा सुख से ही सोते हैं।

अरहंत का तो कहना ही क्या? प्रत्येक धर्मचारी सुख से सोता है। तभी कहा गया -**धम्मचारी सुखं सेति।**

धर्म के मार्ग पर आरूढ़ गृहत्यागी मुनि सदा सुख से सोते हैं – **सुखं सुपन्ति मुनियो**।

जिस किसी के निर्मल चित्त में धर्म की तरंगें लहराने लगती हैं, वह सुख से ही सोता है।

धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा।

धर्मरस से संतुप्त साधक सदा सुखी रहता है – **सुखितो धम्मरसेन तप्पितो**।

बुद्ध का तो कहना ही क्या? वे तो **धम्मभूतो, ब्रह्मभूतो, शीतलीभूतो** हो गये। सदा सुख से सोते थे। उनकी शिक्षा का अनुगमन कर जो भवमुक्त अरहंत हुए, वे सभी सुखी हो गये।

एक घटना –

शाक्यों का एक राजा भद्विय भगवान बुद्ध के पास प्रव्रजित हुआ। जंगल में वृक्षमूल पर या किसी शून्यागार में रहते उसके मुँह से अनायास ये शब्द निकल जाया करते थे – ‘अहो सुख, अहो सुख।’

जब भगवान ने उसे बुला कर पूछा – भद्विय! क्या देख कर तुम्हारे मुँह से उदान के यह शब्द निकलते हैं?

तब उसने उत्तर दिया –

भंते, मेरे गृहस्थकाल में राज्यसुख के भोग भोगते हुए अंतःपुर के भीतर भी कड़ा पहरा रहता था, अंतःपुर के बाहर भी। नगर के भीतर भी, बाहर भी। जनपद के भीतर भी, बाहर भी। सभी जगह पहरा ही पहरा रहता था। भंते, उस समय पहरों के बीच मैं बचाया हुआ-सा, छिपाया हुआ-सा जी रहा था। सदा डरा हुआ, सदा शंकि त रहता था। किंतु इस समय मैं अकेला जंगल, वृक्षमूल या शून्यागार, कहीं भी अभय अनुद्विग्न, शंकारहित तथा अनुत्सुक हो, शांत और विश्वस्त चित्त से दूसरों के दिये हुए दान से संतुष्ट रह कर विहार करता हूँ। भंते, इसी को देख कर मेरे मुँह से उदान के शब्द निकल पड़ते हैं – ‘अहो सुख, अहो सुख’।

बुद्ध का शिष्य सदा सुखविहारी होता है।

अडह्यमानेन कायेन, अडह्यमानेन चेतसा ।
दिवा वा यदि वा रत्तिं, सुखं विहरति तादिसो ॥

—वह न काया में और न चित्त में कामरोग की जलन महसूस करता है। इस प्रकार रात हो या दिन, वह सदा सुख में ही विहार करता है।

भवमुक्त हुआ एक अरहंत भिक्षु अङ्गुलिमाल अपने उद्गार प्रकट करता है -

सुखं सयामि ठायामि, सुखं कप्पेमि जीवितं ।
अहत्थपासो मारस्स, अहो सत्थानुकम्पितो ॥

—मैं सुख से सोता हूँ, सुख से रहता हूँ, सुख से जीवन बिताता हूँ। मैं मार (मृत्यु) के पाश से मुक्त हो चुका हूँ। अहो शास्ता बुद्ध की अनुकंपा से ही ऐसा हुआ।

जब तक भीतर राग की अथवा क्रोध की जलन रहती है तब तक सुख कहां? इससे मुक्त हो कर ही सुख का जीवन जीता है। कोई भी हो, जब-जब क्रोध जागता है, तब-तब दुःखी हो उठता है। परंतु बुद्ध की उपदेशित विपश्यना का अभ्यास करके वही व्यक्ति -

कोधं छेत्वा सुखं सेति, कोधं छेत्वा न सोचति ।

—क्रोधको नष्ट करके सुख से सोता है, क्रोधको नष्ट करके चिंता से मुक्त रहता है।

सुखकारी निर्वाण

श्रावस्ती के ब्राह्मण कुल से प्रव्रजित हुए भिक्षु हारित ने अपनी भवमुक्ति के उल्लास को इन शब्दों में प्रकट किया -

सुसुखं वत निब्बानं, सम्मासम्बुद्धदेसितं ।
असोकं विरजं खेमं, यत्थ दुक्खं निरुज्झति ॥

- सम्यक संबुद्ध द्वारा उपदेशित निर्वाण सचमुच सुखकारी है। वह शोक रहित है, रजरहित है, क्षेमपूर्ण है, जहां दुःख का नितांत निरोध हो जाता है।

सुख से सुख की प्राप्ति

उकट्टा नगर के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न अग्गिक भारद्वाज।

वन में उग्र तप करता हुआ अग्नि की उपासना करता था। काया को अपार कष्ट देता था। वह भगवान के संपर्क में आया और उनसे विपश्यना विद्या सीख कर कुछ दिनों के अभ्यास से भव-संसरण से विमुक्त हो अरहंत पद को प्राप्त हुआ। साथियों के पूछने पर उसने बताया -

यं सुखेन सुखं लद्धं, पस्स धम्मसुधम्मतं।
तिस्सो विज्जा अनुपत्ता, कतं बुद्धस्स सासनं॥

-(विकट दुःख का मार्ग छोड़ कर) मैंने सुखद विधि द्वारा (निर्वाण के परम) सुख को प्राप्त किया है। अहो, धर्म की महिमा तो देखो। (अर्हत अवस्था पर पहुँच कर) मैंने तीनों सिद्धियां प्राप्त कर ली हैं। मैंने बुद्ध की शिक्षा का पूर्णरूप से पालन कर लिया है।

धन्य हैं ऐसे सुखवादी बुद्ध!

सुखी गृहस्थ

बुद्ध की शिक्षा में पका हुआ एक सद्वृहस्थ अपनी पुत्री को विवाहोपरांत विदा करते हुए बुद्ध की शिक्षा के अनुसार अन्य अनेक उपदेशों के साथ-साथ ये तीन उपदेश देता है -

(१) सुख से बैठना, (२) सुख से भोजन करना, और (३) सुख से सोना

और समझाता है, नये घर में जाकर बहू की जिम्मेदारियों को भली-भांति निभाने में ही सुख है। घर के बड़े बुजुर्ग खड़े हों तो उनके बैठ जाने पर ही स्वयं बैठना सुखकर है। घर के बड़े बुजुर्गों को भोजन खिलाने

के बाद ही स्वयं भोजन करना सुखकर है। घर के बड़े बुजुर्गों की सेवा-सुश्रुषा पूरी करके उनके सो जाने के बाद ही स्वयं सोना सुखकर है।

गृहस्थों को धर्ममय सुखी जीवन जीने के लिए दिये गये उपदेश बुद्धवाणी में भरे पड़े हैं।

एक उदाहरण -

सुखा मेत्तेय्यता लोके , अथो पेत्तेय्यता सुखा ।

-संसार में माता की सेवा सुखकारी है, सुखकारी है पिता की सेवा।

और एक उदाहरण -

सुखां यावजरासीलं - वृद्धावस्था तक शीलपालन सुखकारी है।

सुखा सद्भापतिट्टिता - श्रद्धा में प्रतिष्ठित होना सुखकारी है।

सुखो पञ्जायपटिलाभो - सुखकारी है प्रज्ञा से लाभान्वित होना और

पापानं अकरणं सुखं । - पापकर्मों से विरत रहना सुखकारी है।

और एक उदाहरण -

अथम्हि जातम्हि सुखासहाया - आवश्यकता होने पर बंधु-बांधव से मिली सहायता सुखकारी होती है।

तुड्डी सुखाया इतरीतरेन - जो मिले उससे संतुष्ट रहना सुखकारी है।

पुञ्जं सुखं जीवितसङ्गम्हि - अपने द्वारा किया गया पुण्यकर्म मरणोपरान्त सुखकारी होता है।

सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहाया । - (विपश्यना के अभ्यास द्वारा) सारे दुःखों से मुक्त होना सुखकारी है।

भवमुक्ति के परम सुख का ही नहीं बल्कि सामान्य साधारण सांसारिक गृहस्थ जीवन में भी सुख से जीने का पाठ पढ़ाने वाले इस महापुरुष को दुःखवादी कहना कि तना अनुचित है।

संसार में सुख बांटने के लिए ही बुद्ध उत्पन्न होते हैं।

**बुद्धो लोके समुप्पन्नो, असमो एक पुगगलो ।
सो पकसेति सद्धम्मं, अमत्तं सुखमुत्तमं ॥**

-अद्वितीय, असामान्य बुद्ध लोक में उत्पन्न होकर सत्य धर्म प्रकाशित करते हैं। अमृत और उत्तम सुख प्रकाशित करते हैं।

इसीलिए कहा गया -

**सुखो बुद्धानं उप्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा सद्धस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो ॥**

- बुद्धों का उत्पन्न होना सुखदायक है, सत्य धर्म का उपदेश सुखदायक है। संघ का एकत्र होना सुखदायक है और एकत्र होकर तप करना सुखदायक है।

बुद्ध उत्पन्न होते हैं तो सर्वत्र सुख ही सुख फैलाते हैं।

बुद्ध का तो कहना ही क्या? संसार में सत्पुरुषों का उत्पन्न होना भी दुर्लभ होता है -

दुल्लभो पुरुसाज्जो, न सो सब्बत्थजायति।

- (संसार में) सत्पुरुष दुर्लभ होता है। वह सर्वत्र जन्म नहीं लेता।

यत्थ सो जायतो धीरो, तं कुलं सुखमेवती।

-वह धीर पुरुष जहां जन्म लेता है, उस कुलमें सुख की वृद्धि होती है।

एक सामान्य सत्पुरुष अपने कुलके लिए सुखकारी होता है। परंतु बुद्ध तो सारे संसार के लिए सुखकारी होते हैं। वे लोगों को ऐसी कल्याणी शिक्षा देते हैं जिसका पालन करते हुए लोग सुखकारी सद्धर्म का जीवन जीने लगते हैं।

**धम्माराभो धम्मरतो, धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु, सद्धम्मा न परिहायति ॥**

-धर्म में रमण करने वाला, धर्म में निरत, धर्म का चिंतन-मनन करते हुए, धर्म की अनुस्मृति करते हुए साधक भिक्षु सद्धर्म से च्युत नहीं होता।

ऐसा साधक भिक्षु -

**सन्तकयो सन्तवाचो, सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, उपसन्तो ति पवुच्चति ॥**

– शांतकाय और शांतवाणी तथा समाधिस्थ चित्त का धनी, लौकिक कलुष का त्यागी शांत भिक्षु उपशांत कहलाता है।

जो इस प्रकार उपशांत होता है, वह सुखपूर्वक जीता है और सुखपूर्वक सोता है।

उपसन्तो सुखं सेति। – उपशांत सदा सुख की नींद सोता है।

जिसे परम शांति प्राप्त हो गयी, उसे परम सुख स्वतः प्राप्त हो गया। परम शांति ही तो परम सुख है। जिसे निर्वाण की परम शांति प्राप्त हो गयी, उसे सर्वोच्च सुख प्राप्त हो गया।

नत्थि सन्ति परं सुखं। – निर्वाणिक शांति से बढ़ कर अन्य कोई सुख नहीं होता।

ऐसी परम शांति प्राप्त साधक विपरीत परिस्थितियों में भी सदा सुखपूर्वक ही रहते हैं।

सुसुखं वत जीवाम – हम सुखपूर्वक जीते हैं।

वेरियेसु अवेरियो – वैरियों के बीच निर्वैर रहते हुए,

आतुरेसु अनातुरो – पीड़ितों के बीच अपीड़ित रहते हुए,

उस्सुके सु अनुस्सको – आसक्तों के बीच अनासक्त रहते हुए।

ऐसी परम सुखद अवस्था किस प्रकार प्राप्त की जाती है?

पविवेक रसं पीत्वा, रसं उपसमस्स च।

– एकान्तसाधना का रस और उससे प्राप्त चित्त के उपसम यानी शांति के रस को पीकर,

निदरो होति निष्पापो, धम्मपीतिरसं पिवं।

– इस प्रकार प्राप्त हुए धर्मप्रीति रस यानी धर्म का आनंदरस पीकर साधक निडर और निष्पाप हो जाता है।

ऐसा साधक हर अवस्था में सदा सुखी जीवन ही जीता है। जो निर्वैर हो जाता है वह निडर हो जाता है। वैरभाव सहित चित्त में हिंसा का भाव रखे तो द्वेषजन्य पीड़ा से पीड़ित ही होता है। साथ-साथ वैरी के आक्रमण

की आशंका से आतंकित रहता हुआ मन और अधिक प्रपीडित होता है। भगवान बुद्ध ने विपश्यना साधना द्वारा द्वेष, दुर्भावना, वैर और हिंसाभाव को दूर करना सिखाया। इस प्रकार दुःखमुक्त रह कर सुखी जीवन जीना सिखाया।

यतो यतो हिंसमनो निवृत्ति, ततो ततो सम्पति एवं दुःखं।

—जब-जब मन हिंसा से निवृत्त होता है तब-तब दुःख का भी शमन हो जाता है, दुःख दूर हो जाता है।

— दुःख दूर होता है तो जीवन में सुख समा जाता है।

ऐसी सुखद शांति प्राप्त करने के लिए पविवेक अर्थात् एकान्त की साधना आवश्यक है। कि सी शून्यागार में अकेले ध्यान करना आवश्यक है।

**सुञ्जागारं पविट्टस्स, सन्तचित्तस्स भिक्खुनो।
अमानुसी रती होति, सम्माधम्मं विपस्सति ॥**

—एकान्त शून्यागार में प्रविष्ट होकर जब कोई शांतचित्त भिक्षु सम्यक प्रकार से धर्म की विपश्यना करता है तब उसे दिव्य आनंद की अनुभूति होती है।

उसका सारा शरीर विपुल प्रीतिसुख की स्फुरण से भर जाता है -

पीतिसुखेन विपुलेन, फ रमानो समुस्सयं।

धर्म की सम्यक विपश्यना करता है तो प्रीति-प्रमोद का ही सुख नहीं, अमरत्व की अमित शांति का भी सुखलाभ प्राप्त कर लेता है।

**यतो यतो सम्पसति खन्धानं उदयब्बयं।
लभति पीति पामोज्जं, अमतं तं विजानतं ॥**

—जब-जब (विपश्यना द्वारा) शरीर और चित्त स्कंधों का सम्पर्शन (स्पर्श) करते हुए उनके उदय-व्ययरूपी अनित्य स्वभाव को अनुभूतियों के स्तर पर भलीभांति जानता है, तब-तब साधक को प्रीति और प्रमोद यानी आध्यात्मिक आनंद उपलब्ध होता है और वह अमृत अवस्था प्राप्त होती है जो कि ज्ञानियों की गोचरभूमि है।

यही निर्वाण का परम सुख है, परम शांति है।

ऐसे बुद्ध दुःखवादी कैसे हुए?

जो दुःखवादी होगा वह दुःख का ही प्रचार करेगा, लोगों के सुख की कामना कैसे करेगा?

सबसे सत्ता सुखी होन्तु की मैत्रीभावना की शिक्षा देने वाले बुद्ध स्वयं भी सबकी सुख-कामना ही करते हैं।

उनके जीवन की एक घटना -

अंबष्ट नामक ब्राह्मण कुमार ने उन्हें अनेक प्रकार के अपशब्द कह कर अपमानित किया। परंतु जब उसके आचार्य ब्राह्मण पोक्खरसाति ने यह सुना तो उसने अपने शिष्य की ओर से भगवान से क्षमा मांगी। इस पर भगवान ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा -

सुखी होतु ब्राह्मण, अम्बट्टो माणवो।

- हे ब्राह्मण, (तुम्हारा शिष्य) अम्बट्ट माणवक सुखी हो।

एक अन्य घटना -

कोलियपुत्री सुप्पवासा सामान्य से अत्यधिक समय तक गर्भ धारण किये हुए अत्यंत दुःखी थी। प्रसवपीड़ा असह्य हो उठी थी। उसने भगवान तक यह सूचना भिजवायी। उन्होंने करुणाविगलित हृदय से आशीर्वाचन भेजे -

सुखिनी होतु सुप्पवासा कोलियधीता। अरोगा अरोगं पुत्तं विजायतू।

- हे कोलियपुत्री सुप्पवासा तू सुखी हो। तू निरोगी होकर, निरोगी पुत्र का प्रजनन कर।

आशीर्वाद फलदायी हुआ।

दुखियों के लिए सुख की मंगलकामना करने वाले महाकारुणिक पर दुःखवादी होने का लालछन लगाया जाना कि तना मिथ्या है। कि तना दोषपूर्ण है।

एक अन्य घटना -

कोशल का अवकाशप्राप्त राजपुरोहित शतवर्षीय ब्राह्मण बावरी दक्षिण में गोदावरी नदी के तट पर जा बसा था। जब उसने सुना कि कोशल में सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए हैं तब उसने अपने सोलह प्रधान शिष्यों को उन्हीं जांचने के लिए भेजा। श्रावस्ती पहुँच कर वे भगवान की सम्यक संबोधि के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हुए। तब उनमें के प्रमुख शिष्य ने भगवान को प्रणाम करते हुए अपने गुरु बावरी का अभिवादन निवेदित किया। इस पर भगवान ने आशीर्वाद देते हुए कहा -

**सुखितो बावरी होतु सहसिस्सेहिब्राह्मणो ।
त्वं चापि सुखितो होहि, चिरं जीवाहि माणवो ॥**

- ब्राह्मण बावरी अपने शिष्यों सहित सुखी हो! हे माणवक, तुम भी सुखी हो! चिरायु हो!

जो दुःखवादी है वह किसी के सुखी होने की मंगल कामना कैसे करेगा? जिसे जीवन में केवल दुःख ही दुःख दिखे, कहीं सुख का नामोनिशान न दिखे, ऐसा घोर दुःखवादी किसी को दीर्घायु होने का आशीर्वाद कैसे देगा? वह तो अभिशाप कहलायेगा। परंतु वास्तविकता यह है कि वे दुःखवादी नहीं, सुखवादी थे।

उनका मानस सदा सुखमयी मंगल मैत्री से ही भरा रहता था। वे अपने शिष्यों को भी सब प्राणियों के हित सुख हेतु नित्य मंगल-कामनामयी मैत्रीभावना की साधना करना सिखाते रहे।

सब्बे सत्ता भवन्तु सुखीतत्ता - सभी सत्व (प्राणी) सुखपूर्वक रहें।

दुर्भाग्य से विपश्यना साधना यहां से लुप्त हो गयी, परंतु जहां कायम रही वहां, और अब पुनः भारत लौट कर आयी है तो यहां, और भारत के बाहर विश्व में जहां-जहां जो लोग इसे सीख रहे हैं, वहां साधक जानते हैं कि विपश्यना द्वारा चित्त को यथासंभव निर्मल करके शिविर के अंतिम दिन मंगल-मैत्री का अभ्यास कराया जाता है। शिविर के दौरान भी साधना-क्षेत्र में **भवतु सब्ब मङ्गलं** के मंगल-घोष की कल्याणी तरंगों सारे वायुमंडल में तरंगित हो उठती हैं।

पिछली १५-२० सदियों तक जो देश विपश्यना साधना से सर्वथा शून्य रहा, वहां के लोग कैसे जानें कि वस्तुतः बुद्ध कि तने धर्मवादी थे, मंगलवादी थे, सुखवादी थे।

दुर्भाग्य से यहां विपश्यना के साथ-साथ मूल बुद्धवाणी का सारा साहित्य भी विलुप्त हो गया। सब कुछ विलुप्त होकर भी यदि केवल धम्मपद की एक छोटी-सी पुस्तिका ही बची रह जाती तो बुद्ध और उसकी शिक्षा की कटु आलोचना करने वाले इस भूल से बच जाते। धम्मपद का पहला पृष्ठ खोलते ही उनके सामने ये दो पद आते -

**मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं ॥**

-जब कोई व्यक्ति प्रदुष्ट यानी मैले चित्त से शरीर या वाणी का कर्म करता है तब दुःख उसके पीछे ऐसे ही लग जाता है जैसे कि गाड़ी में जुते हुए बैल के पीछे उस गाड़ी का चक्का लग जाता है। इसी प्रकार -

**मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनी ॥**

-जब कोई व्यक्ति निर्मल, प्रसन्न चित्त से शारीरिक या वाचिक कर्म करता है तब उसके पीछे सुख ऐसे ही लग जाता है जैसे कि कभी साथ न छोड़ने वाली छाया।

स्पष्ट है कि मैले चित्त से जो भी शारीरिक या वाचिक कर्म करेंगे, वह दुष्कर्म ही होगा और दुष्कर्म का फल सदा दुःख ही होगा। इसी प्रकार निर्मल चित्त से जो भी शारीरिक या वाचिक कर्म करेंगे, वह सत्कर्म ही होगा और सत्कर्म का फल सदा सुख ही होगा।

यदि वे इन दो प्रारंभिक पदों को ही पढ़ लेते तो तत्काल समझ जाते कि बुद्ध की शिक्षा में **सर्व दुःखं** है, ऐसा कहकर उन्होंने मिथ्यात्व का सहारा लिया और जाने-अनजाने कि तना बड़ा अपराध किया। यहां तो दुःख और सुख दोनों का वर्णन है।

यदि वे केवल धम्मपद की ही सारी पुस्तक पढ़ते तो देखते कि उसमें धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों पर बुद्ध-वचनों के २६ सर्ग संकलित किये गये हैं।

इनमें एक 'सुख वर्ग' है। और यह भी देखते कि उसमें दुःख का कोई अलग वर्ग नहीं है। इस सच्चाई को देख कर वे बुद्ध को सर्व दुःख सिखाने वाले दुःखवादी कैसे कहते? उन्हें दुःख मत का प्रचार करने वाले दुःखवादी कैसे कहते? या इस संसार में रहते हुए दुःख से कभी छुटकारा मिल ही नहीं सकता, ऐसे निराशावादी, उत्साहहीन, संरचनात्मकताविहीन दुःखवादी किस आधार पर कहते?

बुद्ध ने दुःख की भी चर्चा की है, सुख की भी। जहां दुःख की चर्चा की है, वहां उसके कारणों को प्रकाश में लाकर उनके निवारण के लिए उत्साहित किया है। जहां सुख की चर्चा की है, वहां उसके कारणों को उजागर कर उनके संवर्धन के लिए उत्साहित किया है।

वे दुःख और उसके कारणों को समझ कर उससे दूर रहने का उपदेश न देते और यह कहते कि दुःख तो सर्वत्र है और सदा रहने वाला है। इससे बाहर निकलने के सारे प्रयत्न व्यर्थ होंगे। अतः इसके लिए निष्फल परिश्रम नहीं करना चाहिए, तब तो सचमुच बुद्ध दुःखवादी होते, निराशावादी होते, निरुत्साहवादी होते, निष्प्रयासवादी होते। यदि ऐसा होते तो अपने देश के लिए ही नहीं, सारे विश्व के लिए, मानव मात्र के अहित का कारण बनते। तब तो उनकी शिक्षा को अपने देश से ही नहीं बल्कि सारे विश्व से समाप्त करने का सत्प्रयास करना चाहिए था ताकि हम ही नहीं बल्कि सारा विश्व बुद्ध की दुःखप्रदायी शिक्षा से बचे।

परंतु बुद्ध ने तो यह कभी नहीं कहा कि दुःख से छुटकारा पाना असंभव है। बल्कि उन्होंने तो छुटकारे का आशुफलदायी मार्ग बताया। हमने स्वयं उनकी शिक्षा खो दी। मूल वाणी के अभाव में अपनी महान अज्ञता के कारण लगातार मिथ्या प्रचार कर-करके हमने उनकी कल्याणी शिक्षा को भारत से निष्कासित कर अपने देशवासियों को ही इसके लाभ से वंचित कर दिया। विश्व में अन्यत्र जहां गयी, वहां लोगों ने इसे सम्मानपूर्वक संभाल कर रखा और इससे यथासंभव लाभ उठाया। अब समय आ गया है जबकि हम भी सच्चाई को समझ कर इससे लाभ उठायें।

दुःख का कारण और निवारण

भगवान बुद्ध ने दुःख और दुःख के कारण की सच्चाई के वलएक ही उद्देश्य से बताया जिससे कि लोगों के मन में इस दुःखचक्र से बाहर निकलने के लिए धर्म-संवेग जागे। उन्होंने दुःख और दुःख के कारण का वर्णन किया और दुःख के निवारण का उपाय बताया। तिस पर यह कहना कि “**इस मत ने दुःख पर जो इतना अधिक बल दिया है वह मिथ्या नहीं है तो सच भी नहीं है।**” ऐसा कथन स्पष्टतया मूल बुद्धवाणी से अनभिज्ञ होना ही सिद्ध करता है। जन्म-जरा-व्याधि-मरण, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग, मनचाही का न होना - जीवन-जगत के दुःखों की इन सच्चाइयों को कौन नकारता है भला! यह सच क्यों नहीं है भला!

पंच-स्कंध के प्रति यानी शरीर और चित्त के प्रति देहात्म बुद्धि और चित्तात्म बुद्धि जगा कर, उनके प्रति तादात्म्य स्थापित कर, ‘मैं’, ‘मेरे’ का भाव उत्पन्न कर, उनके प्रति घोर आसक्ति जगाते हुए बार-बार जन्मते और मरते रहने के दुःख से कौन इन्कार कर सकता है भला! कम-से-कम भारत की तो सभी धार्मिक परंपराएं जन्म-मरण के चक्कर को दुःख मानती हैं और इस भव-संसारण के चक्कर से छुटकारा पाकर अमरत्व का लक्ष्य रखती है।

इसी संदर्भ में बुद्ध कहते हैं - **दुःखा जाति पुनप्पुनं** , (भवमुक्त होने के पहले) बार-बार इन दुःखों में (मेरा) जन्म हुआ।

बुद्ध बनने के पूर्व प्रत्येक बोधिसत्त्व का यही चिंतन चलता है।

किं च्छं वतायं लोको आपन्नो - अहो, सचमुच सारा संसार दुःख में पड़ा है।

जायति च जीयति च मीयति च चवति च उपपज्जति च।

- जन्मता है, जरा-जीर्ण होता है, मरता है, च्युत होता है और फिर उत्पन्न होता है।

अथ च पनिमस्स दुक्खस्स निस्सरणं नप्पजानाति जरामरणस्स।

- इस (बार-बार के) जरा-मरण के दुःख से निकलना नहीं जानता।

बोधिसत्त्व इस निस्सरण की खोज करते हुए शील-समाधि-प्रज्ञा का मुक्ति-प्रदायक मार्ग ढूँढ निकालते हैं और उससे स्वयं भवमुक्त होते हैं और अनेकों की भवमुक्ति में सहायक बनते हैं।

इसीलिए कहा -

पुनप्पुनं गम्भमुपेति मन्दो - मूढ़ व्यक्ति बार-बार गर्भ में पड़ता है।

पुनप्पुनं जायति मीयति च - बार-बार जन्मता है, बार-बार मरता है।

पुनप्पुनं सिवथिकं हरन्ति - बार-बार लोग (उसे) श्मशान को ले जाते हैं।

अज्ञानवश इस **दुःखा जाति पुनप्पुनं** की पीड़ा में से गुजरते रहना कितनी नासमझी है।

लेकिन भूरिप्रज्ञ बोधिसत्त्व मुक्ति का मार्ग ढूँढ कर बुद्ध बनते हैं और इस भव-संसरण के दुःख से नितांत छुटकारा पा लेते हैं।

मगं च लद्धा अपुनब्भवाय - पुनर्भव से छूटने का मार्ग पाकर

न पुनप्पुनं जायति भूरिपञ्जो - भूरिप्रज्ञ बुद्ध बार-बार जन्म नहीं लेते।

इसी मार्ग पर आरूढ़ होकर अन्य अनेक भी नितांत भवमुक्त होते हैं। इस कथन की पुष्टि करते हुए भगवान बुद्ध के जीवन काल में ही सैंकड़ों भिक्षु और भिक्षुणियों ने भवमुक्त अवस्था पाकर अपने हर्ष-उद्धार प्रकट किये।

कुछ एक उदाहरण देखें -

एक धम्मस्सवणीय

सेतव्य के एक सेठ का पुत्र एक धम्मस्सवणीय मुक्ति के हर्ष में अपने हृदय के उद्गार इस प्रकार प्रकट करता है -

किं लेसा ज्ञापिता मय्हं - मेरी वासना जला दी गयी है।

भवा सब्बे समूहता - सभी भव उन्मूलन कर दिये गये हैं।

विक्खीणो जाति संसारो - जन्म-संसरण का क्षय हो गया है।

नत्थि दानि पुनःभवो – अब मेरे लिए पुनर्जन्म नहीं है।

भिक्षु मेंढसिर

साकेत के एक संपन्न परिवार से प्रव्रजित हुए भिक्षु मेंढसिर अपनी भवमुक्ति पर यह उदान गाते हैं –

अनेक जाति संसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं – बिना अंत पाये हुए इस भव-संसरण में अनेक जन्मों तक दौड़ लगाता रहा।

तस्स मे दुक्खजातस्स दुक्खक्खन्धो उपरट्ठो – ऐसे भव-दुःख में पड़े हुए की मेरी दुःख-राशि अब नष्ट हुई। मैं मुक्त हुआ।

पद्मावती

उज्जैनी की गणिका अभय-माता पद्मावती भगवान से प्रव्रजित होकर साधना द्वारा भव-मुक्त हुई और उसने अपने उद्धार इस प्रकार प्रकट किये –

एवं विहरमानाय इस प्रकार भगवान द्वारा बतायी हुई शिक्षा का आचरण करके,

सब्बो रागो समूहतो – समस्त कामराग को जड़ से उखाड़ कर,

परिळाहो समुच्छिन्नो – वासना की जलन को समुच्छिन्न करके,

सीत्तिभूतस्मिन्निब्बुताति – निर्वाण प्राप्त कर अब मैं परम शीतल, शांत हूँ।

अपराउत्तमा थेरी

कोशलप्रदेश के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में जन्मी अपराउत्तमा थेरी अपनी साधना और उसके फलस्वरूप प्राप्त विमुक्ति का उल्लेख करते हुए कहती है –

ये इमे सत्त बोज्झङ्गा मग्गा निब्बानपत्तिया।
भाविता ते मया सब्बा, यथा बुद्धेन देसिता ॥

- जैसे भगवान बुद्ध ने सिखाया, वैसे ही निर्वाण प्राप्ति के मार्ग स्वरूप, सभी सातों बोध्यंगों की मैंने भावना (साधना) पूरी की।

**सुञ्जतस्सनिमित्तस्स, लाभिनीहं यदच्छिकं ।
ओरसा धीता बुद्धस्स, निब्बानाभिरता सदा ॥**

- शून्यता के, अनिमित्त (निरालंब) के साक्षात्कार से मेरी सारी मनोकामनाएं पूरी हुईं। मैं भगवान बुद्ध की औरस पुत्री निर्वाण में निरत रहती हूँ।

**सब्बे कामा समुच्छिन्ना, ये दिब्बा ये च मानुसा ।
विक्खीणो जातिसंसारो, नत्थि दानि पुनब्भवो ॥**

- मानवी और दिव्य कामभोगों की मेरी सारी कामनाएं समुच्छिन्न हो चुकी हैं। मेरा जन्म-मरण का आवागमन नष्ट हो चुका है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है।

हमारे देश के मनीषी विद्वानों को मूल बुद्धवाणी अपलब्ध हो जाती और वे, बुद्ध और उनके शिष्यों के सैंकड़ों उद्धारों में से ऐसे दो-चार उद्धार भी पढ़ पाते तो अनजाने में अपने देश के विश्व पूज्य ऐतिहासिक महापुरुष की सर्वदुःखविमोचनी और महान सुखप्रदायिनी पावन शिक्षा को दुःखवादी कह कर लंछित करने का महान अपराध कदापि नहीं करते।

* * *

७. बुद्ध जैसा सुखवादी कौन होगा ?

वादी तीन प्रकार के होते हैं -

(१) वादी वे होते हैं जो किसी वाद की स्थापना करते हैं और उसे सत्य सिद्ध करने के लिए वाद-विवाद करते हैं। बुद्ध ऐसे वादी नहीं थे। दुःखवाद उनका स्थापित वाद नहीं था जिसके लिए वे विवाद करते। वे तो किसी भी मान्यता के लिए विवाद कि या जाना गलत मानते थे। तभी कहा -

विवादं भयतो दिस्वा, अविवादं च खेमतो।

(२) वादी वे होते हैं जो कि अपने परंपरागत सिद्धांत की मान्यता के प्रति समर्पित होकर उसे फैलाने का काम करते हैं। जैसे आतंकवादी आतंक में ही विश्वास करते हैं और उसे फैलाने में जी-जान लगाते हैं। कोई भी नहीं कह सकता कि बुद्ध इस प्रकार दुःख फैलाने में लगे थे।

(३) वादी का एक शाब्दिक अर्थ है 'बोलने वाला'। 'वाद' बोलने को कहते हैं। बुद्ध बहुत उपदेश देते थे, इस माने में 'वादी' कहे जा सकते हैं। परंतु बुद्ध सदा धर्म का उपदेश देते थे। इसलिए हम देखते हैं कि उनके जीवनकाल में लोग उन्हें - **सच्चवादी, तथवादी, कम्मवादी, किरियवादी, कालवादी, पियवादी, हितवादी, यथावादी तथाकरी** कहते थे। वे सदा सत्य धर्म की वाणी बोलते थे, अतः उनके विरोधी भी उन्हें **धम्मवादी** कहते थे।

उनके जीवन की एक घटना -

प्रसिद्ध ब्राह्मण आश्वलायन भगवान बुद्ध का समकालीन था। वह प्रखर विद्वान होने के कारण तत्कालीन ब्राह्मण समाज का नेता था। जब ब्राह्मणों ने उससे आग्रह कि याकि वह बुद्ध से वाद-विवाद करे तो उसने यह कहकर स्ना कर दिया कि वे **धम्मवादी** हैं। मैं किसी **धम्मवादी** से कैसे विवाद करूं? बुद्ध के बड़े से बड़े विरोधी ने भी उन्हें कभी **दुःखवादी** नहीं कहा। **दुःखवादी** तो तब कहते जबकि वे सदा दुःख की ही चर्चा करते। सुख का कभी नाम भी नहीं लेते। ऐसा तो था नहीं।

जिस पर दुःखवादी होने का मिथ्या आरोप लगाया गया, वस्तुतः उस बुद्ध जैसा सुखवादी आज तक संसार में कोई नहीं हुआ। जो दुःखवादी होता है, वह केवल दुःख की ही चर्चा करेगा, सुख की चर्चा कैसे करेगा? भगवान बुद्ध को दुःखवादी कहने वाले उनकी मूल वाणी पढ़ पाते तो मेरी ही तरह अपनी भूल पर स्वयं लज्जा में गड़ जाते।

भगवान ने दुःख की चर्चा अवश्य की है पर यह चर्चा दुःख से छुटकारा पाने के लिए है। उन्होंने सुख की चर्चा की है, उचित सुख प्राप्त करने के लिए।

दुःख की उत्पत्ति का क्रम समझाते हुए उन्होंने बताया –

...एवमेतस्स के वलस्स दुक्खव्वखन्धस्स समुदयो होति।

इस प्रकार संपूर्ण दुःख के ढेर की उत्पत्ति होती है।

उसके बाद यह भी बताया कि –

...एवमेतस्स के वलस्स दुक्खव्वखन्धस्स निरोधो होति।

इस प्रकार संपूर्ण दुःखों के ढेर का निरोध हो जाता है यानी दुःख जड़मूल से नष्ट हो जाते हैं।

दुःख की चर्चा करते हुए उन्होंने **जाति पि दुक्खा** आदि कह कर समझाया कि जब तक जन्म-मरण का भव-चक्र चलता रहेगा, तब तक इस प्रकार के दुःखों में से गुजरते रहना पड़ेगा। इस भव-चक्र से मुक्त होना ही सही माने में दुःख-विमुक्ति है। इसी के लिए उन्होंने विपश्यना साधना की ऐसी सहज, सरल, क्रियात्मक विधि सिखायी जो कि वादविवाद जन्य थोथी दार्शनिक मान्यता नहीं है बल्कि ठोस फलदायक सक्रिय विद्या है। बुद्ध ने सत्य संबंधी स्वयं की अनुभूतियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया और अपने शिष्यों को ऐसा ही अनुभूतिजन्य अध्ययन करना सिखाया। भगवान बुद्ध की सारी शिक्षा स्वानुभूतियों पर आधारित है, “शास्त्र वचन प्रमाण” की अंध मान्यता पर आधारित नहीं है।

विभिन्न वेदनाएं

अब तो वेदना का एक ही अर्थ रह गया – पीड़ा यानी दुःख। परंतु उन दिनों वेदना 'अनुभूति' को कहते थे। उन्होंने अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से वेदना यानी अनुभूतियों के अनेक विश्लेषणात्मक वर्गीकरण किये। एक वर्गीकरण में दो प्रकार की वेदनाएं बतायीं – **कार्यिक और चेतसिक**। दूसरे वर्गीकरण में वेदना तीन प्रकार की बतायीं।

तिस्सो, इमा वेदना, भिक्खवे

– भिक्षुओं, अनुभूतियां तीन प्रकार की होती हैं।

कतमा तिस्सो? – कौन-सी तीन?

सुखा वेदना, दुक्खा वेदना, अदुक्खमसुखा वेदना।

– सुख वेदना, दुःख वेदना और तीसरी ऐसी वेदना जिसमें न सुख है न दुःख।

इसका उल्लेख बुद्ध-वाणी में हमें अनेक बार मिलता है। बुद्ध ने कहीं भी केवल **दुक्खा वेदना** नहीं कहा है। जो इस भ्रम में हैं कि बुद्ध ने केवल दुःख की ही चर्चा की, उनकी यह भ्रान्ति बुद्ध-वाणी पढ़ने से ही दूर होगी।

उन्होंने सामान्यतया इन तीन वेदनाओं का उल्लेख किया लेकिन न ध्यान की सूक्ष्म अनुभूतियों के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण-विभाजन करते हुए भिन्न-भिन्न संदर्भ में उन्होंने इन वेदनाओं की विभिन्न संख्याएं गिनायीं हैं। जैसे कि कहीं पांच प्रकार की, तो कहीं छः, कहीं अट्ठारह, कहीं छत्तीस और कहीं एक सौ आठ प्रकार की वेदनाएं बतायीं हैं। उन्होंने मात्र दुःख वेदना ही नहीं बतायी। दुःख के साथ-साथ अन्य वेदनाओं का भी विशद विवरण दिया है।

दुःख वेदना

जाति पि दुक्खा आदि की गणना में उन्होंने ११ प्रकार की दुःख-वेदनाएं गिनायीं हैं।

इनके अतिरिक्त उन्होंने तीन प्रकार के दुःखत्व बताये हैं -

(१) **दुःखदुःखता** - जो प्रत्यक्ष शारीरिक और मानसिक दुःख हैं उन्हें **दुःखदुःखत्व** कहा।

(२) **सङ्घारदुःखता** - कर्म-संस्कारोंके फलस्वरूपप्रकट होने वाले दुःख को **संस्कारदुःखत्व** कहा। प्रबल कर्म-संस्कारपुनर्जन्म देने की क्षमता रखते हैं। जन्म चाहे रूप या अरूप ब्रह्मलोक में ही क्यों न हो, उसकी परिणति मृत्यु में ही होती है। और यदि उस समय भीतर पूर्व कर्म-संस्कारोंका संग्रह शेष है तो पुनर्जन्म होगा ही और भवचक्र चलायामान रहेगा ही। ३१ लोकों में से किसी न किसी लोक में जन्म होगा और दुःखचक्र चलता रहेगा। इसीलिए इसे **संस्कारदुःखत्व** कहा।

(३) **विपरिणामदुःखता** - काया और चित्त में जो प्रतिक्षण विपरिणाम यानी परिवर्तन हो रहा है, वह विभिन्न प्रकार के कायिक और चैतसिक दुःखों में परिणत होता रहता है। काया और चित्त का जो प्रतिक्षण विपरिणाम हो रहा है, वही अंततः मृत्यु रूपी जीवन के विपरिणाम तक पहुँचाता है। इस अर्थ में भी **विपरिणामदुःखत्व** कहा गया।

सुख वेदना

परंतु सुखद वेदनाएं अनेक बतायी गयी हैं। जैसे कि -

आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा के संस्पर्श से होने वाले अनुभवों के पांच **काम-सुख**।

नासमझ लोग इन्हें ही परम सुख मान कर भ्रमित होते हैं परंतु बुद्ध कहते हैं कि इन कामरागजन्य ऐंद्रिय सुखों से कहीं अधिक प्रणीततर यानी उन्नत और श्रेष्ठ है - प्रथम ध्यान का सुख, जिसे **प्रीति-सुख** कहा गया -

सविचारं सवितक्कं विवेकजं पीतिसुखं।

➡-----

[[यहां एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य ध्यान देने योग्य है। बुद्ध के समय 'ध्यान-सुख' के लिए 'आनंद' शब्द का प्रयोग नहीं होता था। उसे 'प्रीति-सुख' कहा

जाता था। बुद्ध पूर्व के वेदों में भी 'आनंद' शब्द का ऊँचे आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। हम देखते हैं कि वेदों में इस शब्द का प्रयोग गृहित अर्थ में कि या गया है। जैसे कि -

आनन्दायस्त्रीषखूं।

- यजुर्वेद ३०, ६

यानी कामभोग के आनंद के लिए स्त्री के साथ मित्रता करो।

वेदों में आनंद के मुक़ाबले सुख शब्द अच्छे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवान बुद्ध के समय तक भी 'आनंद' शब्द हीन अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा, जैसे कि कामभोग के रागरंग में निमग्न अज्ञानियों को फटकारते हुए भगवान ने कहा -

को नु हासो, कि मानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।

- क्या हास-परिहास में लगे हो! क्या आनंद में लगे हो! देखो भीतर सतत प्रज्वलन है।

इसी प्रकार तृष्णा के बारे में कहा -

यायं तण्हा पोनोब्भविक। नन्दीरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी....।

- यह जो पुनर्जन्म देने वाली, कामराग के आनंद की साथिन कभी वहां, कभी वहां मजा चाहने वाली तृष्णा है....।

एक अन्य प्रसंग में हम देखते हैं -

भगवान ने सांसारिक आनंद का उपभोग त्यागा। इसका विरोध करता हुआ मृत्युराज मार कहता है -

नन्दति पुत्तेहि पुत्तिमा - पुत्रों वाला पुत्रों से आनंदित होता है।

गोमिको गोहि तथेव नन्दति - गायों वाला गायों से आनंदित होता है।

उपधी हि नरस्स नन्दना - विषय-भोग ही मनुष्य के आनंद हैं।

न हि सो नन्दति यो निरूपधि - जो विषय-भोग से विरत हैं वे आनंदित नहीं हैं।

यानी उन दिनों तक 'आनंद' शब्द विषय-भोग के रसास्वादन के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था।

परंतु आगे जाकर पातंजलि तक पहुँचते-पहुँचते 'आनंद' शब्द का उत्कर्ष हुआ और 'प्रीति-सुख' का अपकर्ष। पातंजलि ने बुद्ध द्वारा व्याख्यात प्रथम ध्यान में 'वितर्क'

और 'विचार' के साथ 'प्रीति-सुख' का प्रयोग न करके 'आनंद' शब्द का प्रयोग किया है।
यथा -

वितर्क विचार आनन्द अस्मिता रूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः। - योगसूत्र - १०]]



हां, तो भगवान कहरहे हैं कि कामभोगके सुख से प्रणीततर है प्रथम ध्यान का प्रीति-सुख। कुछ लोग इसे ही परम शांति-सुख मान लेते हैं जो गलत है। इससे भी प्रणीततर सुख है - द्वितीय ध्यान का अवितर्क, अविचारजन्य प्रीति-सुख - **अवितर्कं अविचारं समाधिजं पीति सुखं।**

कुछ लोग इसे ही परम शांति-सुख मान लेते हैं जो गलत है। इस से भी प्रणीततर सुख है - तीसरे ध्यान का समता सुख -

उपेक्खको सतिमा सुखविहारी।

कुछ लोग इसे ही परम शांति-सुख मान लेते हैं जो गलत है। इससे भी प्रणीततर चौथे ध्यान का सुख है - समताभाव सहित सजगता की परिसुद्धि के कारण प्राप्त हुई अदुःख-असुख अनुभूति -

अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धं।

कुछ लोग इसे ही परम शांति-सुख मान लेते हैं जो गलत है। इससे भी प्रणीततर है पांचवें ध्यान की अनंत आकाश की अनुभूति -

आकासानञ्जायतनं।

कुछ लोग इसे ही परम शांति-सुख मान लेते हैं जो गलत है। इससे भी प्रणीततर है छठवें ध्यान की अनंत विज्ञान की अनुभूति -

विज्ञानञ्जायतनं।

कुछ लोग इसे ही परम शांति-सुख मान लेते हैं जो गलत है। इससे भी प्रणीततर है सातवें ध्यान की अकिंचन की अनुभूति -

आकिञ्चञ्जायतनं।

कुछ लोग इसे ही परम शांति-सुख मान लेते हैं जो गलत है। इससे भी प्रणीततर है आठवें ध्यान की न संज्ञा और न असंज्ञा की अनुभूति -

नेवसञ्ज्ञानासञ्जायतनं।

कुछ लोग इसे ही शांति-सुख मान लेते हैं जो गलत है। इससे भी प्रणीततर है इसके परे की अनुभूति जहां वेदना और संज्ञा भी निरुद्ध हो जाते हैं - **सञ्जावेदयितनिरोधं**।

यही वस्तुतः शरीर और चित्त के परे, नामरूपातीत, भवातीत, लोकातीत, इंद्रियातीत, नित्य, शाश्वत, ध्रुव निर्वाणिक सुख है। यही परम शांति-सुख है। इसे ही भगवान ने कहा -

निब्बानं परमं सुखं।

निर्वाण का परम सुख तब प्राप्त होता है जबकि पूर्वसंचित कर्म-संस्कारों का उपशमन हो जाता है यानी उनका पूर्णतया निष्कासन हो जाता है। इस अवस्था तक पहुँचा हुआ एक भिक्षु कहता है -

**पमोज्जबहुलो भिक्खु, पसन्नो बुद्ध सासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्घारूपसमं सुखं ॥**

-बुद्ध की शिक्षा से प्रसन्न चित्त हुए प्रमोदबहुल भिक्षु ने कर्म-संस्कारों के उपशमन सुख को और निर्वाण के परम शांतिपद को प्राप्त किया है।

आठों ध्यान तक भी यह अवस्था प्राप्त नहीं होती। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गोतम गृह त्याग कर मगध आये, यद्यपि श्रमण परंपरा के ध्यानाचार्य अलारक लामके ध्यानकेंद्र की एक शाखा कपिलवस्तु में भी थी। परंतु उनका प्रधान ध्यान केंद्र मगध में था और वहीं आचार्य स्वयं उपस्थित थे। वहां दो-तीन दिनों में ही उनसे सातों ध्यान सीख कर भी बोधिसत्त्व ने देखा कि यह अत्यंत सुखदायी तो है परंतु परम मुक्त अवस्था नहीं है। अतः आचार्य अलारक लामसे विदा होकर रवे आचार्य उद्दक रामपुत्त के पास आठवां ध्यान सीखने गये। आचार्य उद्दक ने आठवें ध्यान का केवल विवरण सुना था। परंतु स्वयं कर नहीं पाये थे। बोधिसत्त्व ने वह विवरण सुन कर इसे दो-तीन दिन में ही अधिगम कर लिया। तदनंतर आचार्य उद्दक ने भी इसे अधिगम किया। परंतु बोधिसत्त्व ने देखा कि यह सातवें ध्यान से अधिक सुखदायी होते हुए भी अंतिम अवस्था नहीं है। अभी भी कुछ पूर्व कर्म-संस्कार अनुशय रूप में यानी अंतरतम की गहराइयों में सुषुप्त अवस्था में विद्यमान हैं जो कि पुनर्जन्मदायी हैं। उनके रहते इसे नितान्त भव-विमुक्ति की अवस्था नहीं कही

जा सकती। अतः तदनंतर उन दिनों की बहुप्रचलित देहदंडन की श्रमण साधना का छः वर्ष तक अभ्यास किया। उसे भी निष्फल देख कर अपने प्रयास से सदियों से विलुप्त हुई पुरातन विपश्यना विधि खोज कर नितांत भव-मुक्त अवस्था प्राप्त की। गृहत्याग से सम्यक संबोधि प्राप्त करने तक की अपनी इन साधनाओं का स्पष्ट वर्णन भगवान बुद्ध ने अपनी वाणी में स्वयं किया है।

उन्होंने किसी संजय नामक पंडित के पास जाकर कपिल-दर्शन नहीं सीखा। मूल बुद्ध-वाणी के भारत से विलुप्त हो जाने पर किसी ने ऐसी कपोल-कल्पित बात उनकी साधनाचर्या पर थोप दी होगी। बुद्ध की अपनी वाणी में इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। सिद्धार्थ किसी दर्शन शास्त्र के अध्ययन से बुद्ध बने, यह नितांत तथ्य विरुद्ध कथन है। वे स्वयं कहते हैं कि मैं सभी दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर उठ गया हूँ। किसी दार्शनिक मान्यता के आधार पर बुद्ध बने होते तो यह कैसे कहते?

दूसरे ध्यान में चित्तवृत्ति की निरोध अवस्था प्राप्त होती है, चौथे ध्यान में कायनिरोध की अवस्था प्राप्त होती है। तदनंतर चित्त कायम रहता है। पांचवें से आठवें ध्यान तक उसे अनंत तक फैलाने की विभिन्न विधियाँ हैं। इतना कर लेने पर भी कुछ कर्म-संस्कार बचे रहते हैं जो कि भावी भव-संसरण के कारण होते हैं। आठवें ध्यान की यह अवस्था भी नित्य नहीं है, अपरिणामी नहीं है। जबकि भगवान द्वारा बताई गयी विधि 'विपश्यना' का अभ्यास करने पर आठों ध्यान करना आवश्यक नहीं। केवल इसी के अभ्यास द्वारा सारे कर्म-संस्कारोंके उपशमन की और तृष्णा के पूर्णतया क्षय होने की स्थिति प्राप्त होती है। तब चित्त के निरोध की अवस्था में परम शांति-सुख निर्वाण का साक्षात्कार होता है। यह सुख अतुलनीय है। तभी भगवान ने कहा -

**यच्च कामसुखं लोके, यच्चिदं दिवियं सुखं।
तण्हक्खयसुखस्सेते, कलं नाग्घन्ति सोळसि'न्ति ॥**

- यह जो कामभोग का सुख है और यह जो दिव्य सुख है, ये तृष्णाक्षय के परम सुख की तुलना में सोलह में का एक भाग भी नहीं है।

बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गोतम को जब सम्यक संबोधि के साथ भवमुक्त अवस्था प्राप्त हुई तो उन्होंने अपनी इस उपलब्धि पर यही उद्गार प्रकट किये थे -

विसङ्खारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा ।

- (मेरा) चित्त संस्कार-मुक्त हो गया है, (मुझे) तृष्णा के क्षय की अवस्था उपलब्ध हो गयी है।

भवमुक्ति के नित्य, शाश्वत, ध्रुव शांति-सुख की जो परम चरम निर्वाणिक अवस्था बुद्ध ने स्वयं उपलब्ध की, जीवन भर करुण चित्त से मुमुक्षुओं को वही सिखाते रहे। स्वयं भी सुखी, औरों के सुख में भी सहायक।

भिन्न-भिन्न स्तर की अनुभूतियों के लिए उन्होंने 'सुख' शब्द का ही प्रयोग किया क्योंकि तत्कालीन भाषा में अलग-अलग परिमाण के सुखों के लिए अलग-अलग शब्द थे ही नहीं। बुद्ध भला कि तने नये शब्द गढ़ते!

वैसे कुछ सुखों के नाम उन्होंने अवश्य गिनाये हैं।

जैसे सामान्य गृहस्थों के लिए चार प्रकारके सांसारिक सुख गिनाए -

१- आनण्य सुख - ऋण न होने का सुख। ऋण के बोझ से दबा रहने वाला व्यक्ति कि तना दुखी रहता है यह एक ईमानदार गृहस्थ खूब समझता है। ऐसा व्यक्ति जब ऋणसे मुक्त हो जाता है तो अत्यंत सुखी होता है।

२- अत्थि सुख - भले उसका उपभोग न करे, पर धन-दौलत, ऐश्वर्य-वैभव हो तो मन में जो मोद होता है उसका भी सुख होता है। मेरा बैंक बैलेंस बढ़ रहा है, सालाना टर्न-ओवर बढ़ रहा है। मेरी प्रापर्टी की कीमत बढ़ रही है। मेरे शेयरों के दाम बढ़ रहे हैं। इस मोद में मुदित रहने का सुख अत्थि सुख कहा जाता है।

३- भोग सुख - अत्थिसुख जब भोगसुख बनता है तो गृहस्थ उससे और अधिक सुखी होता है। धन-दौलत के बल पर विभिन्न ऐंद्रिय सुखों का भोग भोगता है। आंख से सौंदर्य देख कर, कानसे मधुर संगीत सुन कर, नाक से सुगंध सूंघ कर, जिह्वा से सुस्वादु रस चख कर, और शरीर से स्पर्श सुख भोग कर सुखी होता है।

४- अनवज्जसुख – सदृहस्थ के लिए उपरोक्त तीनों सुखों से बढ़ कर एक सुख और होता है – वह है धर्म द्वारा वर्जित कर्मों को न करने का सुख। गृहस्थ आत्म निरीक्षण करके देखता है कि वह हत्या नहीं करता, पराया धन नहीं हथियाता, व्यभिचार नहीं करता, झूठ बोल कर किसी को नहीं ठगता। वह कड़वी, चुगली और निंदा की वाणी बोल कर किसी का मन नहीं दुखाता। वह नशेपते का सेवन नहीं करता। अपनी आजीविका के लिए अस्त्र-शस्त्रों का, विष का, पशु-पक्षी आदि प्राणियों का, मांस का, मदिरा आदि नशीले पदार्थों का व्यवसाय नहीं करता। यह देख कर उसका मन प्रसन्नता से भर उठता है। ऐसे दुष्कर्म करने पर इस लोक में सामाजिक निंदा तथा राज्यदंड आदि के और मरने पर परलोक में अधोगति प्राप्त करने के भय से ग्रस्त नहीं रहता। दूषित कर्म करने पर जो आत्मग्लानि होती है उस पीड़ा से भी मुक्त रहता है। इस प्रकार निर्दोषी व्यक्ति सदा प्रसन्न, अभीत और शांत चित्त रहते हुए जो सुख भोगता है वह अन्य सांसारिक सुखों से निस्संदेह श्रेष्ठ सुख है।

परंतु सब प्रकार के सुखों का नामकरण तो नहीं ही किया जा सका। जैसे एक बार अनेक सुखों का तुलनात्मक वर्णन करते हुए उन्होंने बताया कि कौन-सा हीन है, कौन-सा प्रणीत। जैसे कि –

(१) गृहस्थ-सुख तथा प्रव्रज्या-सुख –

इन दो में प्रव्रज्या सुख श्रेष्ठ है।

(२) काम-भोगों का सुख तथा अभिनिष्क्रमण का सुख –

इन दो में अभिनिष्क्रमण का सुख श्रेष्ठ है।

(३) लौकिक-सुख तथा लोकोत्तर-सुख –

इन दो में लोकोत्तर-सुख श्रेष्ठ है।

(४) सास्रव-सुख तथा अनास्रव-सुख –

इन दो में अनास्रव-सुख श्रेष्ठ है।

(५) भौतिक-सुख तथा अभौतिक-सुख –

इन दो में अभौतिक-सुख श्रेष्ठ है।

- (६) आर्य-सुख तथा अनार्य-सुख -
इन दो में आर्य-सुख श्रेष्ठ है।
- (७) शारीरिक-सुख तथा चैतसिक-सुख -
इन दो में चैतसिक-सुख श्रेष्ठ है।
- (८) प्रीति-सहित सुख, प्रीति-विरहित सुख -
इन दो में प्रीति-विरहित सुख श्रेष्ठ है।
- (९) आस्वाद-सुख तथा उपेक्षा-सुख -
इन दो में उपेक्षा-सुख श्रेष्ठ है।
- (१०) असमाधि-सुख तथा समाधि-सुख -
इन दो में समाधि-सुख श्रेष्ठ है।
- (११) प्रीति-आलंबन सुख तथा अ-प्रीति-आलंबन सुख -
इन दो में अ-प्रीति-आलंबन सुख श्रेष्ठ है।
- (१२) आस्वाद-आलंबन-सुख तथा उपेक्षा-आलंबन-सुख -
इन दो में उपेक्षा-आलंबन-सुख श्रेष्ठ है।
- (१३) रूप-आलंबन-सुख तथा अरूप-आलंबन-सुख -
इन दो में अरूप-आलंबन-सुख श्रेष्ठ है।

इसी भांति बुद्ध ने और भी अनेक प्रकार के सुख गिनाये हैं। जैसे -
कामिक सुखं, चैतसिक सुखं, दिव्यसुखं, मानुसक सुखं, लाभसुखं, सक्कारसुखं,
यानसुखं, सयनसुखं, इस्सरियसुखं, आधिपच्चसुखं, गिहिसुखं, सामञ्जसुखं,
सासवसुखं, अनासवसुखं, उपधिसुखं, निरूपधिसुखं, सामिससुखं, निरामिससुखं,
सम्पीतिक सुखं, निष्पीतिक सुखं, ज्ञानसुखं, विमुत्तिसुखं, कामसुखं, नैक्खम्मसुखं,
विवेक सुखं, उपसमसुखं, सम्बोधसुखं।

वैसे भी सुख शब्द प्रासंगिक ही है। अलग-अलग प्रसंग से संबंधित अलग-अलग सुख।

अतः हम देखते हैं कि दुःख की तुलना में इस महापुरुष ने इतने अधिक प्रकार के सुखों की केवल गिनती ही नहीं गिनायी, उनका केवल शाब्दिक विवेचन ही नहीं किया बल्कि उनमें जो श्रेष्ठ हैं उनका अनुभव करना सिखाया। सुख प्राप्त करने की अनेक विधियां बतायीं, जैसे कि -

चित्तं दन्तं सुखावहं - चित्त का दमन सुखदायी है।

चित्तं गुप्तं सुखावहं - चित्त की सुरक्षा सुखदायी है।

धम्मो चिण्णो सुखावहो - धर्म का आचरण सुखदायी है।

सुखी होने के अन्य अनेक उपाय बताये। जैसे कि -

सुखो विवेको तुडुस्स - एकान्तवास में सुख है, संतुष्ट रहने में सुख है।

सुतधम्मस्स पस्सतो - सुने हुए धर्म को विपश्यना द्वारा अनुभूति पर उतार लेने में सुख है।

अव्यापज्जं सुखं लोके - संसार में द्वेषमुक्त हो जाने में सुख है।

पाणभूतेसु संयमो - सभी प्राणियों के प्रति संयम अर्थात् अहिंसाभाव रखने में सुख है।

सुखा विरागता लोके - संसार के प्रति वीतराग होने में सुख है।

कामानं समतिक्कमो - कामुकता से मुक्त होने में सुख है।

अस्मिमानस्स यो विनयो - अहंभाव से विरत होने में सुख है।

एतं वे परमं सुखं - वास्तव में यही परम सुख है। यानी अस्मिताभाव से मुक्त होने में ही निर्वाण का परम सुख है।

उनके द्वारा दुःख की जहां चर्चा हुई है, अधिक शतः उसके कारण और निवारण को लेकर ही हुई है। उन्होंने निवारण का अभ्यास करना सिखाया।

बुद्ध ने इस सच्चाई का उद्घाटन किया -

नत्थ रागसमो अग्नि - राग सदृश कोई अन्य अग्नि नहीं।

राग की अग्नि में जलता है तो दुःखी ही होता है। कामराग की आग मन में जागती है तो मन के साथ-साथ तन को भी जलाती है।

**डुहमानेन कायेन, डुहमानेन चेतसा।
दिवा वा यदि वा रत्ति, दुखं विहरति तादिसो॥**

- काया और चित्त में इस अग्नि से रात-दिन दुःखी रहता है।
इन दुःखों का अंत करने के लिए ही बुद्ध की शिक्षा है।

दुखस्सन्त क रिसन्ति, सत्थुसासनकारिनो।

-शास्ता भगवान बुद्ध के शासन यानी आदेश के अनुसार काम करने वाले दुःखों का अंत कर लेते हैं।

भगवान ने सारे दुःख दूर करने के लिए 'विपश्यना' के अभ्यास का आशुफ लदायी उपाय बताया। जब-जब मन में राग और द्वेषमयी तृष्णा जागती है, तब-तब मन मैला हो जाता है। मन का मैल ही पाप है। मन मैला होने पर ही व्यक्ति पापकर्म करता है और दुःखी हो जाता है। तभी कहा -

**सचे भायत्थ दुखस्स, सचे वो दुखमप्पियं।
माकत्थ पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो॥**

-यदि सचमुच दुःख से भय है और दुःख अप्रिय है तो पापकर्म न करे, न प्रकट रूप में और न परोक्ष रूप में।

पापकर्मों से मुक्त होने के लिए भगवान ने विपश्यना की कल्याणी विधि सिखायी।

पापकं पस्सथ चेतं -जैसे पाप जागे, उसे सचेत होकर विपश्यना द्वारा देखे।

पाप जागा यानी मन में राग या द्वेष का विकार जागा और शरीर में तत्संबंधी संवेदना जागी तो विपश्यना द्वारा उसे तटस्थभाव से देखना आरंभ कर दे।

तत्थ चापि विरज्जत्थ -उसके प्रति अनासक्त हो जाय, विरक्त हो जाय।

ततो विरत्तचित्ता ते, दुखस्सन्त क रिसत्थ।

- उसके प्रति विरक्तचित्त होकर दुःख का अंत कर ले।

तीनों लोकों में जहां भी, जिस किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति के प्रति आसक्ति जागती है, उसे प्राप्त कर अभिनंदित होते हैं।

यदभिनन्दति तं भयं, यस्स भायति तं दुक्खं।

– जब आसक्ति होकर अभिनंदन करता है तो भय उत्पन्न होता है। जब भय उत्पन्न होता है तब सुख लुप्त हो जाता है, दुःख प्रकट होता है।

भय इसलिए जागता है कि यह आलंबन कहीं छूट न जाय। परंतु छूटना तो अनिवार्य है, क्योंकि जिसके प्रति आसक्ति जगा कर उसका अभिनंदन कर रहा है वह नित्य नहीं है, शाश्वत नहीं है, ध्रुव नहीं है, अनित्य है। जो अनित्य है उसके प्रति जागी हुई आसक्ति दुःख ही उत्पन्न करती है। तभी कहा –

नगा समुद्वा सरिता वसुन्धरा, दिसा चतस्सो विदिसा अधो दि वा।

सब्बे अनिच्चा तिभवा उपहुता, कुह्मिगतो चित्त सुखं रमिस्ससि ॥

– पर्वत, समुद्र, नदी, धरती, चारों दिशाएं, चारों विदिशाएं और नीचे की दिशा; सभी अनित्य हैं अतः तीनों भव पीड़ाजनक हैं। ऐ चित्त! तू कहां जाकर सुख से रहेगा?

जो अनित्य है उसके प्रति आसक्ति जागेगी, उसका अभिनंदन करोगे तो जहां कहीं रहो, दुःख ही होगा। सुख कहां?

आसक्ति तभी जागेगी जब कि अहं और ममं का 'मैं' और 'मेरे' का भाव होगा। तभी प्रिय के वियोग का भय जागेगा, भय से दुःखित होगा। अप्रिय के संयोग से क्रोध जागेगा, क्रोध से दुःखित होगा।

विपश्यना के अभ्यास से जो समता में पुष्ट हो जाता है, वह क्रोध से मुक्त हो जाता है, दुःख से विमुक्त हो जाता है।

यस्स सेलूममं चित्तं, टित्तं नानुकम्पति।

विरतं रजनीयेसु कोपनेये न कुप्पति।

– जिसका चित्त समता में शैल सदृश सुदृढ़ और अकम्प्य हो जाता है, वह राग उत्पादक के प्रति वीतराग और क्रोध उत्पादक के प्रति वीतक्रोध रहता है।

यस्सेव भावितं चित्तं, कु तो ते दुःखमेससि ।

– जिसका चित्त विपश्यना द्वारा इस प्रकार समता की भावना यानी साधना से भावित हो चुका, पुष्ट हो चुका, उसे दुःख कहां?

नत्थि चेतसिकं दुःखं, अनपेक्खस्स गामणि ।

– हे गामणि, जिसकी अपेक्षाएं समाप्त हो गयीं, जो वितृष्ण हो गया, उसके चित्त को दुःख नहीं होता।

और यदि व्याधि आदि के कारण शारीरिक दुःख हो भी तो,

पञ्जासहितो नरो इध अपि दुःखेसु सुखाति विन्दति ।

– इस मार्ग पर चलने वाला प्रज्ञावान व्यक्ति उस दुःख को सुख में बदल लेता है। उसमें समता का सुख अनुभव करता है।

इस प्रकार जिस महापुरुष ने दुःखों का सही कारण और उनके निवारण का फलदायी मार्ग बता कर लोगों को दुःखमुक्त किया, उन पर जब हम यह लांछन लगाते हैं कि वे दुःखवादी थे, उनके पास बोलने या सिखाने के लिए दुःख के अतिरिक्त कुछ और था ही नहीं, तो उनकी मूल शिक्षा के बारे में अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट करते हैं। आओ, अब इस हास्यास्पद अज्ञता को दूर करें और सदियों से चली आती हुई अपनी भूल सुधार लें।

८. दुःख की अतिरंजना

मुझे यह भी बताया गया कि संसार में दुःख तो है ही परंतु बुद्ध ने उसकी अतिरंजना की इसलिए 'दुःखवादी' कहलाये। मुझे तो ऐसी कोई अतिरंजना सारी बुद्धवाणी में कहीं देखने को नहीं मिली।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु आदि दुःख है, इस यथार्थ को लोगों के सामने रख कर उन्होंने इससे मुक्त होने का मार्ग आख्यात किया। इन दुःखों की सच्चाई अपने यहां के धर्मग्रंथों में अत्यधिक विवरण सहित व्याख्यात की गयी है। एक उदाहरण देखें : -

बुद्ध ने जिसे केवल **जाति पि दुःखा** कहा, इसी का विष्णु पुराण में इतना घोर दुःखमय विवरण दिया गया -

०० गर्भ की झिल्ली से लित सुकु मार देहवाला जीव, मल-मूत्र रूप घोर कीचड़ में पड़ा हुआ माता के खट्टे, कड़वे, चरपरे, खारे और गर्म पदार्थों के सेवन से और पीठ तथा ग्रीवा की हड्डियों के कुं डलाकासमुड़ी रहने से अत्यंत पीड़ा को प्राप्त होकर और चेतनामय होते हुए भी श्वास लेने में असमर्थ रह कर अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करता हुआ गर्भवास के दुःखों को भोगता है। जन्म के समय भी उसका मुख मल-मूत्र, रक्त-वीर्य आदि से सना रहता है तथा संपूर्ण अस्थिबंधन प्राजाप्रत्य वायु से संतप्त होते हैं। सूतिकावात उसके मुख को नीचे कर देता है और जीव अत्यंत क्लेशपूर्वक माता के गर्भ से निकलने में समर्थ होता है। उत्पन्न होने पर बाहरी वायु के स्पर्श से अत्यंत मूर्च्छा को प्राप्त होता है। उस समय जीव दुर्गन्धित व्रण से गिरे या आरे से चीरे हुए कीड़े के समान ही गर्भाशय से पृथ्वी पर गिरता है। वह स्वयं कुछ भी कर सकने में असमर्थ रहता तथा स्नान और दुग्धाहार के लिए भी पराधीन रहता है। अपवित्र विछौने पर पड़े रहने पर मच्छर आदि उसे काटते हैं। उन्हें भी वह नहीं हटा सकता। इस प्रकार उत्पत्ति के समय और बाद में जीव आधिभौतिक दुःखों को भोगता है।

बुद्ध ने जिसे केवल **जरा पि दुःखा** कहा, इसी का विष्णु पुराण में ऐसा घोर दुःखमय विवरण दिया गया -

०० जब बुढ़ापा आता है तब अंग शिथिल होते, दांत उखड़ जाते और देह पर झुर्रियां तथा नस-नाडियां उभर जाती हैं। नेत्र दूर तक नहीं देख पाते और उनमें गढ़े पड़ जाते हैं। नासिका छिद्रों से रोम बाहर निकलते और देह कांपता रहता है। रीढ़ की हड्डी झुक जाती और सभी अस्थियां दिखायी देने लगती हैं, जठराग्नि मंद होकर पाचन शक्ति और पुरुषार्थ में न्यूनता आ जाती है। चलने-फिरने, उठने-बैठने आदि में भी कठिनाई होती है, कान और नेत्र अशक्त हो जाते हैं, और लार निकलनेसे मुख भी मलीन हो जाता है। इंद्रियां अपने अधीन नहीं रहती और मरणासन्न अवस्था की प्राप्ति होती है तथा अपने देखे-सुने पदार्थों की भी याद नहीं रहती। एक वाक्य कहने में भी कष्ट होता तथा श्वास-कास के प्रकोप से जागता रहता है। दूसरों के द्वारा उठाया बैठाया जाता है, स्वयं कुछ कर नहीं सकता।

बुद्ध ने जिसे केवल **मरणं पि दुःखं** कहा, इसी का विष्णुपुराण में ऐसा घोर दुःखमय विवरण दिया गया -

०० उसकी वाणी और हाथ-पांव शिथिल हो जाते हैं, देह कांपती है, बारंबार ग्लानि और मूर्च्छा के साथ कभी-कभी चैतन्यता भी आ जाती है। उस समय वह अपने धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, भृत्य और घर आदि के प्रति मोह करता हुआ व्याकुल होता है। तभी मर्मभेदी आरे और भयंकर बाणों के समान भीषण रोगों के बंधन काटने लगते हैं। नेत्र चढ़ जाते हैं और तालु तथा ओष्ठ शुष्क होने लगते हैं। दर्द के कारण हाथ-पांव पटकता है और फिर दोनों के कारण कंठ रुद्ध होकर रघर्घर करने लगता है। महान ताप, उर्ध्व श्वास और भूख-पिपासा से व्याकुल हो जाता है। ऐसी दशा में भी यम-यातना प्राप्त करता हुआ बड़े क्लेश से देह त्याग करता है।

विष्णु पुराण के ये विशद विवरण मिथ्या नहीं हैं, बिल्कुल सत्य हैं, परंतु बुद्ध की सामान्य उक्ति के मुकाबले घोर दुःख प्रकाशक तो हैं ही। फिर भी बुद्ध को ही घोर दुःखवादी क्यों कहा गया!

और फिर पुराण कहता है -

मूर्खतावश मनुष्य भूख, प्यास और शीतादि की शांति को सुख समझते हैं। परंतु यथार्थ में वह दुःख मात्र ही है।

इतना ही नहीं, अंत में कहता है -

सर्व दुःखमयं जगत् - सारा संसार दुःखमय है।

यह देख कर आश्चर्य होता है कि **सर्व दुःखं** की घोषणा करने वाला विष्णु पुराण दुःखवादी नहीं माना गया। परंतु इन्हीं दो शब्दों को लेकर बुद्ध घोर दुःखवादी घोषित किये गये। तिस पर विडंबना यह कि मूल बुद्धवाणी तो पालि भाषा में है, इसमें पाणिनीय संस्कृत के वलये दो शब्द कहां से आ गये? कि तना बेबुनियाद लांछन है!

जिस बुद्ध पर **सर्व दुःखं** वादी होने का आरोप लगाया, उसी बुद्ध की शिक्षा से साधक कृतार्थ होते हैं। -

**ते अप्यमन्ता सुखिनो, दिद्वधम्माभिनिब्वुता।
सब्बवेरभयातीता, सब्बदुक्खं उपच्चगुन्ति ॥**

- वे प्रमादरहित हो सुखी रहते हैं, निर्वाण का साक्षात्कार करते हैं। सभी वैर और भय से मुक्त हो जाते हैं और सभी दुःखों के पार हो जाते हैं।

यों सभी दुःखों के पार हुआ एक साधक कहता है -

अनुभोमि सुखं सब्बं।

- मैं अब सब सुखों का अनुभव करता हूं।

सभी दुःखों के पार उतरने की और **सब्बं सुखं** भोगने की सक्रिय सार्थक सुफलदायी शिक्षा देने वाले बुद्ध को दुःखवादी ही नहीं, घोर दुःखवादी कहकर लांछित करना कि तना निराधार दोषारोपण है! कि तना घोर अपराध है!

अतः यह सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट है कि पारस्परिक विग्रह-विवाद के मध्यकालीन युग में हमारे पूर्वजों ने भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा पर मिथ्या कलंक लगाये और उन्हें सदियों तक दोहराते रहे। इसे सुनते-सुनते आज के युग के हमारे दिग्गज मनीषी भी दिग्भ्रमित हुए, जन-साधारण का तो कहना ही क्या?

आओ, भूतकाल की इस भूल का अब निराकरण करें और भगवान बुद्ध की मूल वाणी का अध्ययन कर सच्चाई को जानें-समझें और सदियों से हम उस पर जो मिथ्या लालन लगाते रहे, उस दोष से मुक्त हों।

* * *

९. क्या बुद्ध घोर दुःखवादी थे?

बुद्धवाणी का थोड़ा-सा भी अध्ययन कर ले तो बुद्ध के दुःखवादी होने की भ्रांति टिकी नहीं रह सकती। तिस पर यह कहना तो नितांत असंगत लगने लगे कि उन्होंने दुःखवाद की कालिमा को और अधिक कलुषित किया। अर्थात् वे घोर दुःखवादी थे। इस मिथ्या आरोपण का कोई आधार समग्र बुद्धवाणी में ढूंढने पर कहीं नहीं मिलता।

भगवान बुद्ध ने यदि यह कहा होता कि जीवन में केवल दुःख ही दुःख है, सुख का कहीं नामोनिशान नहीं है और यह भी कहा होता कि हम दुःख की ऐसी अंधेरी कोठरी में कैद हो गये हैं जिसके बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं है। प्रकाश की कहीं कोई किरण नहीं दीखती। हमें इसी अंधेरी कालकोठरी में जीवनभर दुःख से तड़पते रहना होगा। तब तो उन्हें दुःखवादी ही नहीं, घोर दुःखवादी कहना अवश्य सार्थक होता। उनकी शिक्षा को निराशावादी ही नहीं, घोर निराशावादी कहना अवश्य सार्थक होता।

परंतु ऐसा तो उन्होंने कभी कहा नहीं। अपना मतलब सिद्ध करने के लिए अथवा नितांत अज्ञान अवस्था में किसीने “सर्व दुःखम् दुःखम्” के ये तीन शब्द उनके मुँह में डाल दिये और सहस्राधिक वर्षों तक इस झूठ को दोहराया जाता रहा और भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा को अकारण लंछित किया जाता रहा। इसमें उनका क्या दोष?

यह सच है कि उन्होंने जीवन के दुःखद पक्ष को उजागर किया। परंतु उससे छुटकारा पाने का मार्ग भी तो प्रशस्त किया। दुःख के बारे में उन्होंने जो कुछ कहा उसे भारत की कौन-सी परंपरा नकारती है भला! जरा, व्याधि, मृत्यु, प्रिय का वियोग, अप्रिय का संयोग, मनचाही न पाने के दुःख को कौन नहीं स्वीकार करता? परंतु बुद्ध ने बार-बार के जन्म-मरण को इन सभी दुःखों का मूल आधार बताया। प्राणी जब-जब जन्म लेता है तब-तब इन दुःखों में से गुजरता है।

कहीं बुद्ध पर घोर दुःखवादी होने का लक्षण इसलिए तो नहीं लगाया गया कि उन्होंने जन्म-मरण के दुःखों के इस सिलसिले को अनादि बताया।

अनमतगोयं, भिक्खवे, संसारो पुब्बाकोटि न पज्जायति।

—हे भिक्षुओ, इस संसार का प्रारंभ निर्धारित नहीं कि या जा सकता।

हमारे यहां की श्रमण परंपरा में यह मान्यता तो है नहीं कि संसार कि सी ब्रह्मा द्वारा रचा गया है। परंतु हमारे यहां की जो अन्य परंपराएं यह मानती हैं कि संसार की रचना ब्रह्मा द्वारा हुई, वे यह भी स्वीकार करती हैं कि बार-बार सृष्टि का सृजन होता है और बार-बार प्रलय होता है। सबसे पहले सृजन कब हुआ, इसका समय वे भी निर्धारित नहीं कर सके। तब भगवान बुद्ध ने **अनमतगोयं** कह दिया तो क्या अनर्थ किया। उन्होंने जो कहा, वह कि सी ग्रंथ के अथवा परंपरागत मान्यता के अथवा कल्पना के आधार पर तो कहा नहीं। अपने अभिज्ञान के आधार पर कहा।

सम्यक संबोधि प्राप्त होने पर उन्हें अभिज्ञान की जो छः सिद्धियां प्राप्त हुईं उनमें से एक **पुब्बेनिवासानुस्सति** यानी पूर्व जन्मों की स्मृति की सिद्धि थी। इस सिद्धि के आधार पर बुद्ध ने देखा कि चार असंख्येय और एक लाख कल्पों पूर्व दीपंकर नाम के सम्यक संबुद्ध हुए थे। उस समय सिद्धार्थ गौतम सुमेध नाम का तपस्वी ब्राह्मण था। वह सम्यक संबुद्ध दीपंकर को देख कर उनसे बहुत प्रभावित हुआ। उसके मन में यह कामना जागी कि मैं भी इन्हीं की भांति सम्यक संबुद्ध बनूं। अनेक जन्मों में बोधिसत्व के रूप में प्राणियों की सेवा करते हुए बुद्ध बनने की पारमिताएं परिपूर्ण करूं। इससे मैं अकेला ही भवमुक्त न होकर, अनेकों की भवमुक्ति में सहायक बनूंगा। भगवान दीपंकर सम्यक संबुद्ध ने उनके मन के भाव जान कर यह भविष्यवाणी की —

**पस्सथ इमं तापसं, जटिलउग्गतापनं।
अपरिमेय्यितो कप्पे, बुद्धो लोके भविस्सति ॥**

—इस जटाधारी तपस्वी को देखो जिसने कि उग्र तपस्या की हुई है। अपरिमित कल्पों के पश्चात् यह संसार में बुद्ध बनेगा।

यही हुआ। असंख्य कल्पों तक बुद्ध बनने की तैयारी में आवश्यक पारमिताओं (भवसागर से पार उतरने के सद्गुणों) को परिपूर्ण कर वर्तमान भद्र-कल्प में होने वाले पांच बुद्धों में से सिद्धार्थ गौतम चौथे सम्यक संबुद्ध बने। तब उन्होंने यह सिद्धि उपलब्ध कर पूर्व कल्पों का स्मरण करते-करते भगवान दीपंकर के जीवनकाल में उन्हें जो बुद्ध होने का आशीर्वाद मिला, वह याद किया। तत्पश्चात् उसके भी पूर्व कल्पों की ओर ध्यान ले जाकर देखा तो पाया कि यह संसार अनादि है। न जाने कबसे कल्पके बाद कल्प बनते और नष्ट होते रहे हैं और दुःखमय भव-संसरण गतिमान रहा है। इससे मुक्त होने के लिए अन्य सम्यक संबुद्धों की भांति उन्होंने भी मुक्ति की कल्याणी विद्या खोज निकाली और इससे स्वयं भवमुक्त हुए और अनेकोंको यह विद्या सिखा कर उन्हें भी भव-संसरण से मुक्त होने का मार्ग दिखाया। उनके कारण अनेकोंको अनगिनत जन्मों के दुःखों से छुटकारा मिला।

दुःखमय भव-संसरण अनादि कालसे चला आ रहा है, ऐसा कहने के कारण ही कहीं बुद्ध पर दुःख की कालिमा को गहराने का कलंक तो नहीं लगाया गया? भारत के बाहर की परंपराओं में बार-बार जन्म लेने की मान्यता नहीं है। उनकी मान्यता के अनुसार केवल यही एक जीवन है। मरने पर या तो अनंत काल के लिए दोजख अथवा अनंत काल के लिए बहिश्त का जीवन मिलता है। परंतु जो भी आध्यात्मिक परंपराएं भारत में जन्मीं और पनपीं, उन सबकी आज यही मान्यता है कि बार-बार जन्मने और मरने के दुःख से छुटकारा पाना श्रेयस है। कह नहीं सकते कि यह मान्यता बुद्ध पूर्व से चली आ रही थी या बुद्ध के समय प्रचलित हुई।

संभवतः बुद्ध के पूर्व वेदों में यह मान्यता रही होगी। इस निमित्त छंदस भाषी वेदवाणी का सम्यक अनुसंधान किया जाना उचित होगा। इस संबंध में अब तक हमारे सामने जो प्रसंग आये उनमें से एक यह है -

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेयनाय॥**

यजुर्वेद ३१-१८

- मैं उस महान पुरुष को जानता हूँ जो कि आदित्य-वर्णा है और (अविद्या के) अंधकार से सर्वथा परे है। उसे जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण कि या जाता है। इसके सिवाय अन्य कोई पंथ विद्यमान नहीं है।

मृत्यु के पार जाने का अर्थ पुनर्जन्म से मुक्त हो जाना ही है, क्योंकि पुनः जन्म होगा तो पुनः मृत्यु होगी ही। हो सकता है इस वैदिक ऋचा में एक बार के नहीं बल्कि बार-बार के जन्म-मरण से मुक्त होने का भाव ही व्यक्त किया गया हो।

और एक उद्धरण -

अश्मन्वतीर् ईयते संभध्वम् उत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।

अत्रा जहाम ये असन्नसेवाः, शिवान् वयम् उत्तरेमाभिवाजान् ॥

ऋग्वेद १०-५३-८

- हे मित्रो! उठो और सब मिल कर (दुःखरूपी) पत्थरों से भरी हुई इस तीव्रगामिनी नदी को बलपूर्वक तैर कर पार करो। जो असेवनीय (सांसारिक पदार्थ) हैं, उनको यहीं छोड़ दो। जब हम परले तीर पर पहुँचेंगे तब सब प्रकार की कल्याणी ऊर्जा प्राप्त करेंगे।

यहां जीवन की दुःखदायी नदी को पार करके परले तीर पर स्थित शिव यानी अमर अवस्था को प्राप्त करने का संकेत स्पष्ट है। परंतु यहां भी यह स्पष्ट नहीं है कि इस कथन का अभिप्राय केवल इसी जन्म की दुःखमयी नदी को पार करने का है अथवा बार-बार के जन्मों की दुःखमयी नदी को।

एक अन्य प्रसंग में कहा गया -

वीरयध्वं प्र तरता

- अथर्वेद १२.२.२६

- पुरुषार्थी ही तरते हैं, पार होते हैं।

यहां भी यह स्पष्ट नहीं है कि एक बार के जन्म-मरण से तरने की ओर संकेत है अथवा बार-बार के। हो सकता है बार-बार के जन्म-मरण से तरने का ही भाव हो।

परंतु यदि बुद्ध पूर्व के भारत में एक ही जन्म और फिर उससे छुटकारा पाकर अमर हो जाने की मान्यता थी और बुद्ध ने अनंत कल्पों में बार-बार

के जन्म-मरण की नयी मान्यता स्थापित की, तब तो यह मान कर कि उन्होंने एक जन्म के दुःख को अनेक जन्मों के दुःखों में संवर्धित किया, इस कारण उनके द्वारा दुःख की कालिमा को अधिक गहराया गया, ऐसा कहा जाना उचित हो। परंतु यह अनुमान कहां तक सच है, इसका अनुसंधान होना आवश्यक है।

वैसे अपने यहां पुरातन काल में और कहीं-कहीं अब भी मनुष्यलोक को मर्त्यलोक कहते रहे हैं और देवलोक को अमर लोक। मर्त्यलोक का प्राणी किसी भी उपाय से देवलोक में जन्म पा ले तो अमर हो जाता है। विष्णु की सगुण साकार भक्ति परंपरा में यही माना जाता है कि मृत्यु के उपरांत विष्णु के बैकुंठलोक में जन्म मिल जाय तो अमर होकर भवमुक्त हो जाता है। परंतु बुद्ध के कथनानुसार देवलोक के देव भी अमर नहीं हैं। सारे लोक मर्त्य हैं। केवल लोकोत्तर अवस्था अमर्त्य है।

अतः ऊंचे से ऊंचे लोकों में भी मृत्यु के भय का दुःख तो है ही। कहीं सच्चाई की इस घोषणा के कारण ही बुद्ध को दुःखवादी अथवा घोर दुःखवादी तो नहीं कहा गया? परंतु देवलोक भी अमर्त्य नहीं है, यह सत्य कालांतर में परवर्ती भारत की अन्य परंपराओं ने भी स्वीकार कर ही लिया। विष्णुपुराण का कहना है -

स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोनीरित निवृत्तिः।

- स्वर्ग में भी वहां से नीचे गिरने के भय से प्राणी सदा अशांत आतंकित रहता है।

प्राणी देवलोक में अमर हो या ब्रह्मलोक में अमर हो या सारे लोकों से परे लोकोत्तर निर्वाण में अमर हो, बार-बार जन्मने-मरने की मान्यता तो आज के भारत में सर्वस्वीकृत हो चुकी है। यदि इसी को घोर दुःखवाद कहा गया तो इससे अपने यहां की कोई परंपरा कलंकित होने से नहीं बचेगी। केवल बुद्ध को ही क्यों कलंकित किया जाय?

आवागमन के इस दुःख को हमारे यहां के सभी मत-मतांतरों ने स्वीकार किया है। इससे छुटकारा पाने की तड़पन सब ने प्रकट की है। भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों ने छुटकारे के उपाय भले भिन्न-भिन्न माने हों, पर

छुटकारे का लक्ष्य तो सब का रहा है। मैं स्वयं कि शोरावस्था में विष्णु की भक्ति के दौरान यह पाठ किया करता था -

**वासुदेवस्य भक्तानाम् अशुभम् विद्यते क्वचित्।
जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, भयं ते नप्पजायते॥**

-वासुदेव के भक्त को किंचित अशुभ का सामना भी करना पड़े तो भी जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि का भय उसके मन में कभी नहीं जागता। अर्थात् विष्णु की कृपा से वह जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जायगा। अतः उसे इनका भय नहीं छू सकता। मुक्त न होने की अवस्था से जन्म, व्याधि, जरा, मृत्यु के आवागमन का भय तो स्वीकृत है ही।

कृष्णकी भक्ति में निमग्न मीरा अपने गिरधर से याचना करती है -

**यो संसार बह्यो जात है, लख चौरासी री धार।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आवागमन निवार॥**

और फिर कहती है -

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फांसी।

रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास भी भवसागर से तरने के लिए अन्य अनेकों की भांति नाम जपने का उपदेश देते हैं।

**नामजप, नामजप, नामजप बावरे!
घोर भव नीरनिधि, नाम निज नाव रे!**

और कहते हैं -

**क लियुग केवल नाम अधारा,
सुमर-सुमर भव उतरेहु पारा।**

संत कवीर भी आवागमन से छुटकारा पाने को महत्त्व देते हुए कहते हैं -

कहत कवीर सुनो भई साधो, आवागमन मिटाऊं।

और उनका एक शिष्य कहता है,

लख चौरासी भटक मनुज तन पायल हो।

और चौरासी लाख योनियों की भटकन से छुटकारा पाने के लिए इस अनमोल मानव जीवन का उपयोग करने के लिए परामर्श देता है।

संत गुलाल साहब कहते हैं कि जब सत्गुरु सत्य का दर्शन करा देंगे तो आवागमन अपने आप रुक जायगा।

आवागमन न होइहैं, सत्गुरु सत्त लखावै।

क्या शंकराचार्य भी घोर दुःखवादी थे

और तो और स्वयं स्वामी आदि शंकराचार्य भी आवागमन से छुटकारा चाहते हैं और उसके लिए साधन बताते हैं। वे कहते हैं -

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्।

- बार-बार जन्मना, बार-बार मरना, बार-बार जननी की कोख में शयन करना।

इह संसारे बहुदुस्तारे, कृपयापारे पाहि मुरारे॥

- हे मुरारि, कृपा करके इस अत्यंत दुस्तर संसार (सागर) से मुझे पार लगाइए।

यह कैसे न्यायसंगत है कि बार-बार जन्मने-मरने के घोर दुःख से व्याकुल आदि शंकराचार्यजी जब इस दुस्तर संसार-सागर से पार लगाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं तो 'दुःखवादी' नहीं माने जाते और इसी दुस्तर भवसागर से पार उतरने के लिए तृष्णामुक्त हो सकने की विधि सिखाने वाले बुद्ध 'दुःखवादी' माने जाते हैं।

वैसे समस्त परकालीन भारतीय अध्यात्म परंपराओं के समान शंकराचार्यजी भी यह स्वीकार करते हैं कि इस भव-संसरण का कारण तृष्णा है। इसलिए वे भी तृष्णा से छुटकारा पाने का उचित परामर्श देते हैं -

मूढ जहीहि धनागम तृष्णां, कुरु सदबुद्धिं मनसि वितृष्णाम्।

-अरे मूढ़, धन की तृष्णा त्याग! सद्बुद्धि जगा कर मन में वितृष्णा पैदा कर।

सचमुच संसार-चक्र में उलझा हुआ मानव कि तना मूढ़ है।

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं , दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।

-अंग-अंग जराजीर्ण हो गये, सिर के बाल पक गये, मुख दंतविहीन हो गया,

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं , तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥

-इतना बूढ़ा हो गया कि लाठी ले कर भी कठिनाई से चल पाता है, तिस पर भी घनीभूत आशा (तृष्णा) नहीं छूटती।

इस तृष्णा से छुटकारा पाने के लिए शंकराचार्यजी जहां -

भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, भज गोविन्दं मूढमते ।

का उपदेश देते हैं, वहां यह भावना (साधना) करने का भी सुझाव देते हैं -

अर्थमनर्थम् भावयन्तित्यम् ।

-“अर्थ क्या है! और अनर्थ क्या है?” या यों कहें कि “सार क्या है? और निस्सार क्या है?” इसकी भावना (साधना) नित्य करे और यह समझता रहे कि -

नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।

सच्चाई यही है कि यहां (इस संसार में) **लेशमात्र भी सुख नहीं है।**
(अर्थात् संसार में केवल दुःख ही दुःख है।)

जहां लेशमात्र भी सुख नहीं है, उस दुःखमय संसार को सुखद मान कर कहीं अपना अनर्थ न कर ले।

स्पष्ट है कि बार-बार जन्मने और मरने के संसार-संसरण में सुख नहीं, दुःख ही है; इस मान्यता में भगवान बुद्ध और आचार्य शंकर की वाणी में साम्य ही साम्य है। यदि अंतर है तो यही कि बुद्ध ने कि सी अज्ञात अदृश्य काल्पनिक शक्ति पर आश्रित न होकर हमें स्वावलंबी बनाया और स्वयं

अपने परिश्रम पुरुषार्थ से भवमुक्त होने के लिए विपश्यना विद्या सिखायी। यह ज्ञान जगाया कि जब तक पांच स्कंधोंके प्रति यानी शरीर और चित्त के प्रति तादात्म्यभाव बना रहेगा तब तक इनके प्रति उपादान यानी गहन आसक्ति रहेगी ही। इसे ही भवसंसरण का प्रमुख कारण बताया और कहा – **सङ्घित्तेन पञ्चुपादानमखन्धा दुक्खा।** एक स्कंध शरीर का और जानने, पहचानने, संवेदनशील होने तथा प्रतिक्रिया करते हुए कर्म-संस्कार बनाने वाले चार स्कंध मानस के, इन पांचों के प्रति यानी देह और चित्त के प्रति उपादान अर्थात् आसक्ति जगाना, यही दुःखों का मूल है। दुःख के इस मूल से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने मुक्तिदायिनी विपश्यना विद्या दी। इस मार्ग पर आरूढ़ साधक देहात्मबुद्धि और चित्तात्मबुद्धि से छुटकारा पाता हुआ अहं और मम के प्रति आसक्ति क्षीण करता है, राग-द्वेष के विकार दुर्बल करता है। विपश्यना के प्रज्ञाबल द्वारा राग और द्वेष से जितना-जितना मुक्त होता है उतना-उतना दुःखमुक्त होता है। स्थितप्रज्ञ होकर पूर्णतया वीतराग और वीतद्वेष होता है तो आवागमन के सारे दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

भगवान बुद्ध ने ऐसी विद्या सिखायी जिसके सुपरिणाम प्रमाणित हुए हैं, पूर्वकाल में भी और आज भी। परंतु फिर भी हमने उन पर 'घोर दुःखवादी' होने का लेबल लगाया। भगवान बुद्ध की मूल वाणी का अध्ययन करके और सर्वदुःख विमोचनी विपश्यना विद्या का थोड़ा बहुत भी अभ्यास करके कोई निष्पक्ष व्यक्ति बुद्ध और उनकी शिक्षा पर दुःखवादी और निराशावादी होने का लांछन कैसे लगायेगा? अज्ञानवश कोई अन्य ऐसा करे तो उसे कैसे स्वीकार करेगा? कैसे सहन करेगा?

१०. भगवान बुद्ध की दो प्रमुख साधनाएं

(१) विपश्यना साधना

इसी जीवन में सुख से जीने और दुःख से नितांत छुटकारा पाने के लिए भगवान ने अनेक साधनाएं सिखायीं। उनमें से दो प्रमुख हैं। एक है शील-सदाचार के आधार पर समाधि द्वारा चित्त को एकत्र करने और अपने भीतर प्रज्ञा जगा कर राग-द्वेष के विकारों से मुक्ति दिलाने वाली विपश्यना विद्या। ऐसी आशुफलदायिनी विद्या जिसके सुपरिणाम प्रत्यक्ष प्रमाणित हुए हैं। भगवान बुद्ध के जीवनकाल में जीवन-जगत की असह्य चपेटों से मार खाये हुए न जाने कि तने दुखियारे इसी मुक्तिदायिनी विद्या द्वारा नितांत दुःखविमुक्त हुए। एक उदाहरण -

कि सा गोतमी

विवाहोपरांत वर्षों तक पुत्र प्राप्ति की प्रबल लालसा से लालायित कि सा गोतमी ने जब पुत्र को जन्म दिया तो उसकी खुशियां आसमान छूने लगीं। मानो उसे कुबेर का कोष मिल गया। परंतु लगभग दो वर्ष बाद इस इकलौते पुत्र को सर्प ने डस लिया और वह चल बसा। तब उसका हृदय दुःख की अतल गहराइयों में डूब गया। उसका करुणकंदन लोगों के लिए भी असह्य हो गया। ऐसी दुखियारी नारी जब भगवान बुद्ध के संपर्क में आयी तब इसी विपश्यना विद्या द्वारा वह अपने पुत्र-वियोग के शोक से ही नहीं, बल्कि जन्म-जन्मांतरों के दुःखों से सर्वथा विमुक्त हो गयी। उसका भवसंसरण रुक गया। शेष जीवन अपनी जैसी दुखियारी महिलाओं को इसी विद्या द्वारा दुःखविमुक्त हो सकने में सहायिका बनी रही।

एक अन्य उदाहरण -

पटाचारा

वह श्रावस्ती के धनवान माता-पिता की पुत्री थी। धन-दौलत के ऐशो आराम में जन्मी और पली थी। जब वह युवावस्था को प्राप्त हुई तब काममद के कीचड़ में फिसल कर घर के एक युवा नौकर के साथ भाग गयी। कुछ वर्षों बाद पीहर लौटते हुए राह में कि सी दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति में उसका पति और दोनों पुत्र मृत्यु को प्राप्त हुए। रोती-बिलखती जब श्रावस्ती पहुँची तो श्मशान भूमि के पास से गुजरते हुए उसने देखा कि तीन चिताएं जल रही हैं। उसे बताया गया कि ये तीनों उसकी मां, पिता और भाई की चिताएं हैं। रात भूकंप में उनकी हवेली गिर गयी और तीनों दब कर मर गये। अब उस दुखियारी के लिए संसार में अपना कोई नहीं रहा। इस असह्य आघात के परिणाम स्वरूप वह पूर्णतया चित्त-विक्षिप्त हो गयी। भगवान बुद्ध के संपर्क में आयी तो होश में आकर इसी विद्या द्वारा स्वजनों के वियोग-शोक से ही नहीं, बल्कि भवसंसरण के सभी दुःखों से भी सर्वथा विमुक्त हुई। शेष जीवन अनेकों के दुःखविमोचन का कारण बनी।

इसी प्रकार आज भी भवमुक्तिप्रदायिनी इस विपश्यना विद्या के अभ्यास का हर कदम यहीं इसी जीवन में लौकिक दुःखविमुक्ति का सुख प्रदान करता है। प्रत्येक वर्ष विश्व भर में लक्षाधिक शिविरार्थियों के अनुभव इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। शिविर आरंभ होने पर पुत्र, पुत्री, पति, पत्नी आदि स्वजन परिजन की मृत्यु के कारण आकुल-व्याकुल अथवा धन, पद, प्रतिष्ठा आदि के नष्ट हो जाने के कारण उत्पीड़ित अथवा अन्य अनेक कारणों से हताश, निराश हुए कुंठाग्रस्त शिविरार्थी दो नहीं, सौ नहीं, हजारों की संख्या में मुरझाए-मुरझाए चेहरे लिए हुए शिविरों में सम्मिलित होते हैं और शिविर समापन पर उपलब्ध शांतिसुख से आह्लादित उनका खिला हुआ चेहरा देखते ही बनता है। भगवान बुद्ध की यह शिक्षा प्रभूत सुखदायिनी है इसकी सच्चाई प्रत्यक्ष हमारे सामने हैं।

कैंसर जैसे असीम पीड़ाजनक व्याधि के अंतिम चरण में जब मरणांतक पीड़ा सर्वथा असह्य हो उठती है तब विपश्यना में पके हुए एक से

अधिक साधकों ने बिना नींद की अथवा बेहोशी की दवा लिए हुए, शांत चिंत से प्राण त्यागे हैं। इसी को कहा गया -

भद्रकं मे जीवितं, भद्रकं मरणं।

- मेरा जीना भी भली प्रकार, मरना भी भली प्रकार।

जिसे सुख से जीना आ गया उसे सुख से मरना भी आ गया। बुद्ध द्वारा सिखायी गयी विपश्यना के अभ्यास द्वारा जो सुख से जीने की कला में निपुण हो गया, वह मरने की कला में स्वतः निपुण हो गया। दुःखविमोचन की इससे महान विद्या और क्या होगी?

रात-दिन प्रतिशोध की ज्वाला में धधकते रहने वाले कारागृहके अनेक अपराधी बंदी जब विपश्यना के शिविर में से गुजरते हैं तो अश्रुमुख होकर अपना अपराध स्वीकारते हैं और प्रतिशोध के स्थान पर मैत्री की मंगल भावनाओं से ओतप्रोत हो उठते हैं। तब भगवान बुद्ध की सुखप्रदायिनी कल्याणी विद्या स्वतः प्रमाणित हो उठती है। प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या?

(२) मेत्ता भावना

बुद्ध की शिक्षा काल्पनिक हवाई महलों का निर्माण नहीं करती। मिथ्या आशाओं के पुल नहीं बांधती। इस विद्या का हर कदम यथार्थ की ठोस धरती पर स्वानुभूतिजन्य सच्चाई के सहारे आगे बढ़ना सिखाता है। साधक विपश्यना द्वारा अंतर्मुखी होकर देखता है कि जब-जब वह अपने मन में किसी के प्रति वैर जगाता है, द्वेष जगाता है तो स्वयं तत्क्षण व्याकुल हो उठता है। अशांत हो उठता है। **अशान्तस्य कुतो सुखं?** के नैसर्गिक नियमानुसार सुख उससे कोसों दूर छिटक जाता है। अतः वह खूब समझने लगता है कि वैर, क्रोध व द्वेष जगाने पर उसका पहला शिकार वह स्वयं होता है। वह तत्क्षण बेचैन होने लगता है। वह यह भी देखता है कि इन दुर्भावनाओं से छुटकारा पाते ही सुख-शांति से हर्षित पुलकित हो उठता है। इसलिए वह बार-बार यह शुभ संकल्प करता है -

अहं अवेरो होमि, अब्यापज्जो होमि, अनीघो होमि, सुखी अत्तानं परिहरामि।

– में बैर विहीन होऊं, व्यापाद (द्वेष) विहीन होऊं, क्रोध विहीन होऊं। में अपने आप में अपने भीतर सुख का उपभोग करूं।

यह केवल शुभ संकल्प मात्र ही नहीं है। विपश्यना द्वारा विकार विमुक्त होकर जब वह सुख शांति से भर उठता है तब भगवान बुद्ध द्वारा सिखायी गयी दूसरी कल्याणी साधना – मैत्री भावना का अभ्यास करता है। उसके मन में अपने और पराये, दृश्य और अदृश्य सभी के प्रति यह मंगल कामना जागती है कि वे भी दुर्भावनाओं से मुक्त होकर सुखविहारी हों।

मातापितु आचरिय जातिसमूहा, अवेरा होन्तु, अब्यापज्जा होन्तु, अनीघा होन्तु, सुखी अत्तानं परिहरन्तु।

– मेरे माता-पिता, आचार्य, बंधु-बंधव वैर विहीन हों, व्यापाद (द्वेष) विहीन हों, क्रोध विहीन हों। वे अपने आप में अपने भीतर सुख का उपभोग करें।

आरक्खदेवता, भूमड्डदेवता, रुक्खड्डदेवता, आकासड्डदेवता अवेरा होन्तु, अब्यापज्जा होन्तु, अनीघा होन्तु, सुखी अत्तानं परिहरन्तु।

– रक्षक देव, भूदेव, वृक्षवासी देव, आकाशवासी देव, वैर विहीन हों, व्यापाद (द्वेष) विहीन हों, क्रोध विहीन हों। सभी अपने आप में, अपने भीतर सुख का उपभोग करें।

पुरत्थिमाय दिसाय, पच्छिमाय दिसाय,

उत्तराय दिसाय, दक्खिणाय दिसाय,

हेट्ठिमाय दिसाय, उपरिमाय दिसाय,

पुरत्थिमाय अनुदिसाय, पच्छिमाय अनुदिसाय,

उत्तराय अनुदिसाय, दक्खिणाय अनुदिसाय,

– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, पूर्वी अनुदिशा, पश्चिमी अनुदिशा, उत्तरी अनुदिशा और दक्षिणी अनुदिशा – इन दसों दिशाओं के ;

सब्बे सत्ता, सब्बे पाणा, सब्बे भूता, सब्बे पुग्गला,

सब्बे अत्तभाव परियापन्ना, सब्बा इत्थियो सब्बे पुरिसा,

सबे अरिया, सबे अनरिया, सबे देवा, सबे मनुस्सा,
सबे अमनुस्सा, सबे विनिपातिका ।

– सभी सत्व, सभी प्राणी, सभी जीव, सभी पुद्गल, जन्म ग्रहण कि ये
हुए सभी व्यक्ति, सभी स्त्रियां, सभी पुरुष, सभी आर्य, सभी अनार्य, सभी
देव, सभी मनुष्य, सभी अमनुष्य और सभी नरक गामी प्राणी –

अवेरा होन्तु, अब्यापज्जा होन्तु, अनीघा होन्तु, सुखी अत्तानं परिहरन्तु ॥

– वैर विहीन हों, व्यापाद (द्वेष) विहीन हों, क्रोध विहीन हों। सभी
अपने आप में, अपने भीतर सुख का उपभोग करें।

यों स्वयं दुर्भावनाओं से विमुक्त होकर सही सुख-शांति का उपभोग
करते हुए विपश्यी साधक सभी प्राणियों की सुख शांति के लिए मंगल
कामना करते हैं।

दस दिवसीय अथवा दीर्घकालीन शिविर में सम्मिलित होकर विपश्यना
विद्या के सक्रिय अभ्यास द्वारा साधक अपने चित्त को यथाशक्ति **राग-द्वेष
विसंयुक्त** करके निर्मल करते हैं और शिविर के अंतिम दिन लोक कल्याणकी
उदात्त भावनाओं से अनुप्राणित होकर उल्लसित हृदय से जब मंगल मैत्री का
अभ्यास करते हैं तब भावविभोर हो उठते हैं।

विपश्यना के पूर्व उनमें से अनेकों ने गीता का यह पाठ किया होता
है –

– **अद्वेष्या सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च ।**

परंतु अब वास्तविकता के स्तर पर सभी प्राणियों के प्रति द्वेषमुक्त
होकर उनके प्रति मैत्री और करुणा जगाते हैं तो अपूर्व धन्यता का अनुभव
करते हैं।

वस्तुतः **निर्वैरः सर्वभूतेषु** होकर **सर्वभूतहिते रताः** के शिव संकल्प को
क्रियान्वित करने का अवसर प्राप्त करते हैं तो हर्षातिरेक से विह्वल हो उठते
हैं। गद्गद हृदय से ये उद्गार निकलते हैं कि इस विद्या द्वारा हमें जो भी
सुख-शांति मिली, ऐसी सब को मिले।

- मेरे सुख में शांति में, भाग सभी का होय।

सारे प्राणी - सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सुखी हों, क्षेमपूर्ण हों!

ये केचि पाणभूतत्थि, तसा वा थावरा अनवसेसा।
दीघा वा येव महन्ता वा, मज्झिमा रस्सका अणुक थूला ॥

दिट्ठा वा येव अदिट्ठा, ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा सम्भवेसी वा, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ॥

-ये प्राणी चाहे स्थावर हों या जंगम, दीर्घ देहधारी हों या महान या मध्यम या ह्रस्व, सूक्ष्म देहधारी हों या स्थूल, दृश्य हों या अदृश्य, दूरवासी हों या समीपवासी, उत्पन्न हो चुके हों या उत्पन्न होने वाले (गर्भस्थ) हों, ये सभी सत्त्व सुखविहारी हों!

सबका मंगल हो! सबका कल्याण हो! सबकी स्वस्ति-मुक्ति हो!!

तपोभूमि के परिसर का सारा वायुमंडल सुख-शांति की मंगलमयी तरंगों से तरंगित हो उठता है।

- सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होय रे!

- जन-जन मंगल, जन-जन मंगल, जन-जन सुखिया होय रे!!

- दृश्य और अदृश्य सभी जीवों का मंगल होय रे!

- जल के, थल के और गगन के, प्राणी सुखिया होंय रे!

- दसों दिशाओं के सब प्राणी मंगललाभी होंय रे!

- निर्भय हों, निर्वैर बनें सब, सभी निरामय होंय रे!!

द्वेष दूर क रकेमैत्रीभावना क रने वाले को स्वयं अनेक लाभ मिलते हैं,
जिनमें से कुछ हैं -

(१) वह सुख की नींद सोता है।

(२) वह सोकर सुखपूर्वक उठता है।

(३) वह दुःस्वप्न नहीं देखता।

(४) उसके चेहरे की सौंदर्य-कांति बढ़ती है।

(५) वह सबका प्रिय होता है।

(६) वह बिना बेहोश हुए सुख-शांतिपूर्वक प्राण छोड़ता है।

(७) वह जन्म-मरण के भवसंसरण कीयातनाओं से विमुक्त होता है।

दिदुं व अनुपगम्भ – कि सी भी मिथ्या दार्शनिक मान्यता के जंजाल में नहीं पड़ने के कारण,

शीलवा दस्सनेन सम्पन्नो – मैत्रीभावना के सफल अभ्यास के लिए शील-संपन्न होने के कारण और दर्शन-संपन्न यानी विदर्शना अर्थात् विपश्यना-संपन्न होने के कारण,

कामेसु विनेय्यगेधं – कामभोग की तृष्णा से सर्वथा छुटकारा पाकर ब्रह्मचर्य का पालन करने के कारण,

वह मरणोपरांत रूपब्रह्मलोक में जन्म लेता है और वहीं विपश्यना करता हुआ अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेता है। सारे लोकों से परे लोकोत्तर परमसुख अमृत का साक्षात्कार कर भवसंसरण से विमुक्त हो जाता है। अतः,

न हि जातु गब्भसेय्यं पुनरेति – आवागमन से विमुक्त हो जाने के कारण “**पुनरपि जननी जठरे शयनम्**” के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है।

*** **

सुख से जीने और सुख से मरने की और भवविमुक्ति का परमसुख प्राप्त करने की कला सिखाने वाली भगवान बुद्ध की ऐसी सुखदा शिक्षाओं को हमने दुःखवादी ही नहीं, घोर दुःखवादी कहा; उसे कलंकित ही नहीं, घोर कलंकित किया।

हमारे यहां ऐसी अशोभनीय घोषणाएं हुई हैं –

बुद्ध ने दुःखवाद की प्रबल अतिशयोक्ति की है...। मानव जीवन पर जितनी प्रगाढ़ कालिमा बुद्ध ने थोपी है उतनी और कि सी ने नहीं...। उन्होंने दुःख की कालिमा को अत्यंत अतिरंजित करके दिखाया है।

यह भी कि –

बुद्ध वस्तुओं के अंधकारमय पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। इस मत में दुख पर इतना अधिक बल दिया गया है कि वह यदि मिथ्या नहीं तो सत्य भी नहीं है।...

बौद्धमत में इस प्रकारकी प्रवृत्ति पायी जाती है कि जो धुँधला है उसे काला बना दो और जो काला है उसे घोर तमोमय बना दो।...

बौद्धों की दृष्टि सिद्धांतरूप से केवल जीवन के तीक्ष्ण, कटु और दुःखमय अंशों तक ही विशेषरूप से सीमित रहती है।...

इस प्रकारकी गलत धारणाओं से नितान्त विभ्रान्त हुआ मेरे जैसा एक व्यक्ति इस साधना से स्वयं सुखविभोर होकर अन्य अनेकों को सुखी हुआ देखता है तो अपनी पूर्व निर्मित मिथ्या धारणाओं को याद कर लज्जा और आत्मग्लानि के बोझ से दब जाता है। सचमुच भगवान बुद्ध की पावन शिक्षा पर मिथ्या कलंक लगा कर हमने बड़ा अपराध किया है। जहां बुद्ध ने दुःख के विश्वव्यापी अंधेरे की कालिमा को सुख का पावन प्रकाश प्रदान किया, वहीं इस तथ्य की जानकारी गँवा देने के कारण हमने अपनी नासमझी में उनकी निर्मल शिक्षा पर कालिख पर कालिख पोतते हुए उस बेबुनियादी कलंक-कालिमा को घोर तमोमय बना देने की भयंकर भूल की है।

जो हुआ सो हुआ। आओ, अब जबकि मूल बुद्धवाणी और विपश्यना विद्या का भारत में पुनरागमन हो गया है और यह भारत में ही नहीं, संपूर्ण विश्व में सहर्ष स्वीकृत हो रही है तो इसके विमल प्रकाश में हम इस मिथ्यात्व के अंधेरे को दूर करें और सच्चाई को जाने, समझें। अनजाने में हमसे जो भूलें हुई हैं, उनका निराकरण करें। अपने विश्वव्यापी ऐतिहासिक महापुरुष की जिस कल्याणी विद्या पर हमने मिथ्या कलंक लगा कर देश से निष्कासित किया उसे स्वागत सम्मान सहित पुनः अपने देश में पुनर्वासित करें और अपने तथा विश्व के कल्याण में सहायक बनें! इसी में देश का गौरव समाया हुआ है।